वेदान्त वा आत्मविचार

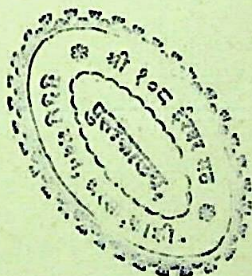


राजा बलदेवदास बिरला

व
२६५१



वेदान्त वा आत्मविचार



राजा बलदेवदास बिरला

काशी
संवत् १९९२ वै०

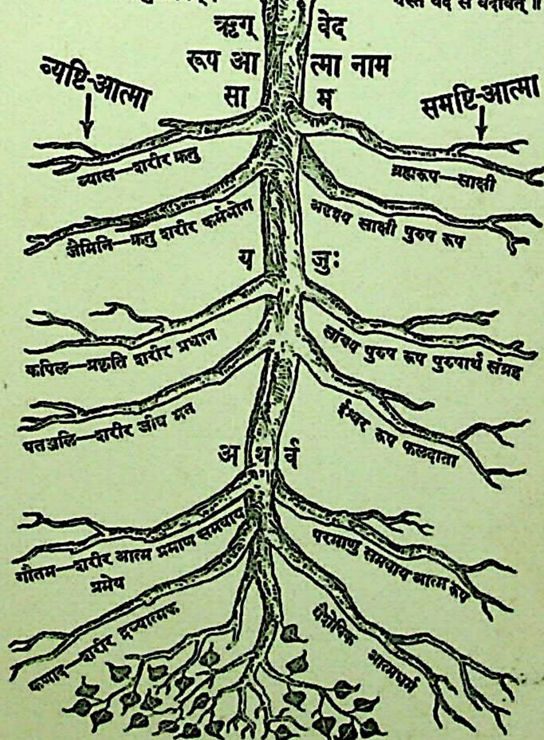
प्रकाशक–मुद्रक
माधव विष्णु पराड़कर
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी ।
६१३१–९२

विषयानुक्रम





नाम परमात्मा का है संसारवृक्ष



प्राक्कथन

पूर्वाचार्योंके अनुभव और उपदेशसे लाभ उठाना तथा अपने अनुभव और मननका फल आगे आनेवालोंके लिये छोड़ जाना, यही मननशील मनुष्यका स्वभाव है और यही उन्नतिका मुख्य साधन। पूर्वजोंके पद-चिन्होंका अनुसरण कर हम मनुष्य हुए; हमारा कर्तव्य है कि पीछे आनेवालोंके लिये कुछ चिन्ह छोड़ जायं जिसमें वे, यदि चाहें तो, पथ-भ्रष्ट होनेसे बचें तथा स्वयम् सुखी होकर औरोंको भी सुखका मार्ग दिखा सकें। यह छोटीसी पुस्तक लिखनेका यही हेतु है। मैं विद्वान् नहीं हूँ, न मुनि, न तपस्वी। संसारमें रहते हुए, पूर्वकर्मोंका भोग करते हुए, विद्वत्संगसे जो कुछ ज्ञान हुआ, श्रुति स्मृतिका जो अर्थ समझमें आया, और दीर्घकालके अनुभवसे जो कुछ मालूम हुआ वही आज इस पुस्तक द्वारा नम्रतापूर्वक नरनारायणकी सेवामें उपस्थित कर रहा हूँ। यह मेरे पक्षमें केवल धृष्टता है अथवा इसका कुछ उपयोग भी है, इसका निर्णय करनेके अधिकारी तो पाठक ही हैं। जिसे आजतक अपना समझता रहा वही जिसमें सबका हो जाय, आत्मबुद्धि परमात्मबुद्धिमें मिलकर कृत-कृत्य हो, यही आशा इस प्रयासकी प्रेरिका है।

प्रस्तावनारूपमें पहले यह बतानेकी आवश्यकता है कि इस पुस्तकका नाम 'वेदान्त या आत्मविचार' क्यों रखा गया। पहले 'वेदान्त' लीजिये। इस शब्दमें दो पद हैं, वेद और अन्त। यह बात तो सहज समझमें आती है कि जिसका अन्त होता है उसकी उत्पत्ति भी अवश्य हुई होगी। 'वेद' का यदि 'अन्त' है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि वेदका स्थान क्या है और उसकी उत्पत्ति और अन्त कब होता है। मेरे पास इसका उत्तर यही है कि प्राणिमात्रके शरीरमें जो अन्तःकरण है वही 'वेद' है। प्राणी शरीर द्वारा जो क्रिया करते हैं उसका फल अन्तः-

करण रूप वेदपर अङ्कित होता है। यही भावी शरीरका कारण होता है। इस शरीरके अन्त हो जानेपर, अन्तःकरणपर जो संस्कार हुए हैं (और जिनका द्रष्टा पुरुष है) उनका फल भोगनेके लिये दूसरा शरीर प्राप्त होता है। अर्थात् शरीरसे जो जैसा करता है वैसा ही पाता है, जैसा कर्म वैसा फल मिलता ही है। इसी बातको श्रुतिने "यथापूर्वमकल्पयत्" इन शब्दोंमें कहा है। जैमिनिने इसीको कर्म शरीर कहा है। जो प्रत्येक शरीरमें भोग करानेवाला और नया संचय करानेवाला है उसे ब्राह्मण कहते हैं। यही पूर्वकर्मका भोग कराके उसका 'अन्त' करा देता है, और आगेके लिये बनाता भी है। 'वेद' और 'अन्त' इन दो पदोंका यही तात्पर्य है।

आत्मा घट घटमें व्याप्त है। वही सर्वत्र दीखता है और प्रसिद्ध है। फिर उसके विचारकी आवश्यकता ही क्या है? इसका सामान्यतया उत्तर यह है कि जो बहुत परिचयका होता है, जो अत्यन्त निकट होता है, उसीका विचार सबसे कठिन होता है। जौहरी हीरा पहचान सकता है पर अपने आपको पहिचानना बड़ा कठिन है। यह अत्यन्त कठिन है इसीसे श्रुतिने भी इसपर जोर दिया है। यथा—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"—(बृ० २।४।५) क्यों इसको जानना चाहिये, इसका उत्तर भी यही श्रुति देती है—"आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।" (आत्माके देखने सुनने मनन करने और जाननेसे सबका ज्ञान होता है।) आत्मा सर्वव्यापक है इसलिये उसको जाननेका यत्न करनेकी आवश्यकता नहीं, यह धारणा बिलकुल भ्रममूलक है, वरंच उसको जाननेसे सब जाना जाता है—जाननेको और कुछ बाकी नहीं रह जाता, अतएव उसे जाननेका यत्न करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है। यह एक कारण हुआ। दूसरा कारण यह भी है कि शास्त्रोंमें आत्माको ब्रह्म भी कहा है, पुरुष भी कहा है और जीव

भी। इन भेदोंको समझकर सन्देहरहित होनेके लिये भी 'आत्म-विचार' आवश्यक है।

आत्मा अदृश्य और व्यापक है। संसार या सृष्टिका जब व्यापार होता है तो वह व्यापाररूपमें या व्यापारके लिये दीखता है। उस समय उसके दो भाव होते हैं। जो दीखता है वह 'पर' होता है इस-लिये 'पर'की आत्माको परमात्मा और शरीरकी आत्माको केवल आत्मा कहा जाता है; यही व्यापार है। इसको नैयायिकोंने द्रव्य कहकर दो भागोंमें विभक्त किया है। उन्होंने परमात्माको परमाणु और आत्माको अणु कहा है। प्राण और मनसे विशिष्ट होनेपर शरीरात्माको ही जीवात्मा भी कहते हैं।

सृष्टि-व्यापारके लिये वही समस्त रूपोंको धारण करता है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, दिक्, नक्षत्र आदि सबको एक साथ लेकर अर्थात् उसके समष्टिरूपको 'ब्रह्म' कहते हैं। वही आदित्यरूपसे दिखाई देता है। शरीर-आत्माको हम आँखोंसे देखते हैं; उसीको आदित्य और सोलह कलायुक्त पुरुष कहा जाता है। सामान्य और एक रूपसे यही ब्रह्म है। यही पुरुष रूपका विभाग करता और कराता है तथा शरीर-रूपी पुरीमें रहनेके कारण पुरुष कहलाता है। एक भावसे सोलह कलाओंसे युक्त होनेके कारण वही (एक) आदित्य-पुरुष है; और वही विभक्त होकर अनेक भावोंमें दीखता है तो अनेक पुरुष कहलाता है। गुण-कर्म जैसा छोटा-बड़ा होता है पुरी भी वैसी ही छोटी बड़ी अनेक प्रकारकी होती है। उस पुरीमें प्राण और मनसे युक्त होनेपर वही पुरुष जीव कहाता है। आत्माके नामके ये ही चार भेद शास्त्रोंमें प्रमाणित हैं।

जो अदृश्य रहता है वह आत्मा है। जो सबको सब रूपोंमें दीखता है वह ब्रह्म है। गुण-कर्मानुसार छोटी या बड़ी पुरीमें रहनेके कारण ब्रह्मका नाम पुरुष होता है। यही पुरुष पुरुषार्थके द्वारा अर्थकी सिद्धि

कराता है। सांख्यशास्त्रका यही मत है। उसको फलके साथ जो युक्त करता है उसे ईश्वर कहा है। मन और प्राणके द्वारा जो भोग करता है उसे जीव कहते हैं। फिर वही पुरुष साक्षीरूप होकर जीवको, उसने जैसा समवाय (संचय) किया हो तदनुरूप, फल देता है। यही भेद है और विचार करनेसे अभेद हो जाता है। जो भेदरहित होकर, सारे भेदोंमें अभेद देखते हुए, केवल शरीरसे क्रिया करता है वही आत्मदर्शी वा आत्मज्ञानी है। आत्माको ॐ और शरीरको उद्गीथ कहते हैं। यही आत्मविचार और यही आत्मविचारका फल है। इसी अर्थमें इस ग्रन्थका नाम 'वेदान्त वा आत्मविचार' रखा गया है।

बलदेवदास बिरला



उपोद्घात

ब्रह्म एक है। सर्वज्ञ और सर्व-शक्ति-सम्पन्न है। मकड़ी जैसे अपने ही सूत्रसे अपना घर बना लेती है उसी तरह वह भी आप अपनेसे इस विश्वका निर्माण करता है। वही पुरुष, ईश्वर वा सर्वसाक्षी होकर अपने अंशभूत जीवको उसके प्रारब्धके अनुसार अर्थकी प्राप्ति कराता है। जीव स्वयं भोक्ता और दूसरेके प्रति भोग्य है।

सृष्टिके लिये ईश्वरने दाम्पत्यकी सृष्टि की है। ब्रह्मांशभूत जीव उसका सूत्रपात करता है। उससे नाभिचक्रके द्वारा जरायुपटकी उत्पत्ति होती है जो गर्भमें बच्चेकी रक्षा करता है। जरायुपटसे आच्छन्न वही देह जब बाहर आता है तो अनेक चेष्टाओंका आश्रय होता है अतः उसे घट कहते हैं। उसीको शरीर, पुरी और कर्म भी कहते हैं। उक्त शरीररूपी पुरीमें विहार वा शयन करनेके कारण ब्रह्मको पुरुष कहते हैं। स्थावर जङ्गम समस्त सृष्टिका क्रम यही है। वही एक ब्रह्म अपने सूत्र द्वारा समस्तविश्वमें व्याप्त होकर घट घटमें प्रकाश करता है। इसका विवेचन इस ग्रन्थमें किया गया है इससे इसको ब्रह्मसूत्र वा शारीरमीमांसा भी कहते हैं।

इस ग्रन्थमें श्रुति स्मृति, विशिष्ट विद्वानोंकी सम्मति और अपने दीर्घ-कालीन अनुभवके आधार पर यह दिखानेका यत्न किया गया है कि बाह्य जगत्के अनुसार आन्तर जगत् यानी शरीरमें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद इन वर्णोंकी; सात लोक, ध्रुव और सप्त ऋषियोंकी; प्रजा-पति और उसके सन्तान देव असुरोंकी सृष्टि हुई है। आत्माके साधनके अनेक उपायोंका; उसमें समस्त वेदान्तोंके समन्वयका; आत्माके स्वरूप और उसमें कल्पित गुणोंके भेदसे ब्रह्म, पुरुष और जीव इन उपाधियोंका; ब्रह्मयज्ञ, पुरुषयज्ञ और अग्निहोत्रका; सुषुप्तिमें ब्रह्मभावको प्राप्त करके भी जागनेपर उसकी परावृत्तिका अर्थात् फिर पहली धुनमें आ जानेका;

देवयान, पितृयान, उत्क्रान्ति और परावृत्ति तथा तल्लीनताका यथा-स्थानोंपर यथासम्भव विस्तारके साथ निरूपण किया गया है। जीवको सुख दुःखादिकी प्राप्ति प्रारब्धानुसार ही हुआ करती है, यह बात बार बार कही गयी है जिसमें यह पाठकके हृदयपर जम जाय।

अन्तमें निवेदन यही है कि पाण्डित्यका परिचय देनेके लिये यह प्रयास नहीं किया गया है। किन्तु जिन्हें वेदान्तसे रुचि है पर समयका अभाव और विद्वानोंका संग प्राप्त न होनेके कारण उसके अध्ययनसे वंचित रह जाते हैं उनको जिसमें हिन्दी भाषाके द्वारा वेदान्तके रहस्यों-का ज्ञान हो जाय, इसलिये यह यत्न किया गया है। ऐसे ग्रन्थकी भाषा जहाँतक सरल हो सकती है की गयी है। सफलता कहांतक प्राप्त हुई है, इसका निर्णय तो पाठक ही कर सकते हैं। इस पुस्तकसे यदि एक भी जीवका उद्धार हुआ, यदि अधिक गहरे पानीमें पैठकर रत्न निकालनेकी इच्छा उत्पन्न हुई तो मैं अपने प्रयासको सफल समझूंगा।

भ्रम तो मनुष्यसे होता ही है। उसे सुज्ञ पाठक सुधार लेंगे और अपनी उदारतासे हमारी अल्पज्ञताको भी चरितार्थ करेंगे यही आशा है।

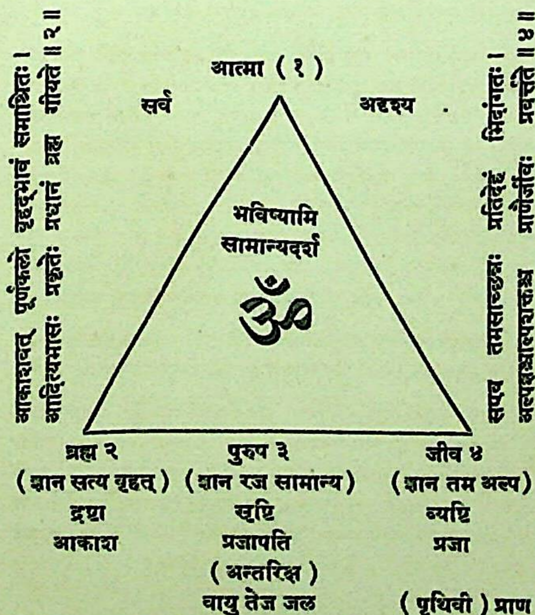
इस कार्यमें मुझे पण्डित राजनारायण शास्त्री व्याकरणाचार्य (अध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय) तथा पण्डित मधुसूदन शास्त्री साहित्याचार्य आदि विद्वानोंसे यथेष्ट विचार-सहायता प्राप्त हुई है, इसके लिये मैं उन्हें हृदयसे धन्यवाद देता हूँ। काशीके कुछ प्रतिष्ठित विद्वानोंने इस पुस्तकके सम्बन्धमें अपनी बहुमूल्य सम्मतियां भी दी हैं, जो पुस्तकके अन्तमें दी जा रही हैं। मैं इन महानुभावोंका कृतज्ञ हूँ।

विजयादशमी,
संवत् १९९२ वै.,
श्रीकाशीक्षेत्र

बलदेवदास बिरला

ब्रह्म-चित्रम्

एकोऽदृश्यः सर्वशक्तः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
सर्वज्ञो व्योमसंव्याप्य परमात्मा व्यवस्थितः ॥ १ ॥



साक्षीव यः प्रकृतिजै रमते भूतसंज्ञकैः ।
समवायी स सामान्यस्त्र्यर्धांशः पुरुषः स्वराट् ॥ ३ ॥



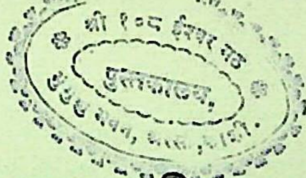
मङ्गलम्

आत्मस्तुतिः

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

वह (परमात्मा) अपनी कलाओंसे परिपूर्ण है। यह (जीव) भी (उसके अंशोंको लेकर अपने कर्मोंसे) परिपूर्ण है। यह उसीसे आविर्भूत हुआ है इसलिये परिपूर्ण है। जैसे शून्यको शून्यसे घटानेपर शेष भी शून्य ही रहता है अथवा उपाधियोंसे अलग करनेपर भी महाकाश आप अपनेसे परिपूर्ण रहता है उसी प्रकार महापूर्णको अल्पपूर्णसे पृथक् करनेपर भी वह स्वांशमें पूर्ण है। हम भी अपने उद्देश्योंमें पूर्ण हैं।





वेदान्त का आत्मविचार



प्रथम अध्याय



प्रथम पाद

१ जिज्ञासाधिकरण (सू० १)

आत्मसुखकी इच्छासे ही संसारियोंके सब व्यापार होते हैं। वह सुख कैसे प्राप्त हो इसके लिए उपाय सोचे जाते हैं। और इसी सुखकी प्राप्तिके लिए संसारी लोग अपनी अपनी विभूतियाँ बढ़ाते हैं जिसके फलस्वरूप सर्वत्र देहात्मवाद अर्थात् देह ही आत्मा है—देहसे भिन्न आत्मा नामका कोई पदार्थ नहीं है, यह सिद्धान्त दिखाई देता है। एकका अन्त होनेपर दूसरे दुःखित होते हैं। पर विचारशील पुरुषके हृदयमें जिज्ञासा उत्पन्न होती है और वह इस निश्चयपर पहुँचता है कि शरीरको चलानेवाला कोई दूसरा है जिसके कारण यह सब आलोकमय था।

अपनी या अपने सगेकी भौतिक उन्नति या अवनतिपर हर्ष या विषाद होना अज्ञानका फल है। वह उसके पूर्व कर्मोंका फल है, अवश्य प्राप्त होगा। जो हो नहीं सकता, जो होकर ही रहता है, उसके लिये हर्ष या विषाद व्यर्थ है। वास्तविक सुख या सच्ची शान्ति तभी होती है जब नित्य-बुद्ध-शुद्ध-मुक्त-स्वभाव सच्चिदानन्दका साक्षात्कार अपने भीतर होता है। इसी बातको श्रुति बतलाती है—

(१)

भिद्यते हृदयग्रन्थी छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

—मुण्ड० २।२।८

हृदयकी सारी उलझनें सुलझ जाती हैं, सारे सन्देह दूर हो जाते हैं—देहात्मवाद नष्ट हो जाता है और सच्ची शान्ति प्राप्त होती है जब मनुष्य अपने भीतर उस बाहर-भीतर व्याप्त सच्चिदानन्दका साक्षात्कार कर लेता है। अतः सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप ब्रह्म सर्वथा वाञ्छनीय और जिज्ञास्य है।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

उस ब्रह्मको ढूँढ़नेके लिये इधर उधर भटकनेकी आवश्यकता नहीं है। वह बाहर भीतर सर्वत्र व्याप्त है। नित्य शुद्ध–बुद्ध–मुक्त स्वभाव, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, घट घटमें व्याप्त है। 'ब्रह्म' यह नाम ही उसकी अलौकिक विभुतियोंका साक्षी है।

प्रतिक्षण जीवमात्रको उसका परिचय भी हुआ करता है। 'अहमस्मि' या 'मैं हूँ' यह अनुभव ही उसका प्रत्यक्ष परिचय है। किसीको कभी 'मैं नहीं हूँ'—('नाहमस्मि') ऐसी प्रतीति नहीं होती। 'मैं हूँ' इस प्रतीतिका अभाव असम्भव है। यदि आत्मा आकाशकुसुम होता अर्थात् एक झूठी कल्पना होती तो 'मैं नहीं हूँ' ऐसी प्रतीति होती और वह स्थायी भी हो जाती। पर ऐसा नहीं होता यही इस बातका प्रमाण है कि आत्मा है।

भगवान् आदित्य एक हैं पर अनेक दर्पणोंमें अनेक दिखाई देते हैं। उसी तरह यह आत्मा बृहद्भावसे समस्त ब्रह्माण्डमें व्याप्त है और ब्रह्म कहलाता है। वही मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वृक्ष, पर्वत, नदी आदि समस्त स्थावर जङ्गम सृष्टिमें शयन वा विहार करनेके कारण पुरुष

रूपसे घट घटमें विराजमान है। प्राणोंका संयमन करता हुआ जब यही पुरुष भिन्न भिन्न देहों या चराचरमें प्रकाश करता है तब वह 'प्राणी' या 'जीव' कहलाता है। यह उसकी उपाधियाँ हैं जो सांसारिक व्यापारके लिये कल्पित होती हैं। इन उपाधियोंमें भेद होनेपर भी वस्तुतः वह ब्रह्म या आत्मा एक है और चराचर सृष्टिका सञ्चालन करता है। श्रुतिने बतलाया है—

'योऽप्सु तिष्ठन्नपो यमयति' इत्यादि।

वही परमात्मा जो आदित्यमण्डलमें देदीप्यमान है वही हमारे अन्दर तथा ब्रह्मके विषय या उसमें अध्यस्त समस्त भूतोंमें भी प्रकाश करता है। वही हमारा अन्तिम ध्येय—चरम लक्ष्य है। उसका परिचय प्राप्त कर लेना ही परम पुरुषार्थ है। यही शारीरक मीमांसा शास्त्रका रहस्य है।१

२ जन्माद्यधिकरण (सू० २)

केवल अनुभवसे मालूम होनेवाले ब्रह्मके 'तटस्थ' लक्षणका निरूपण करनेके लिये द्वितीय अधिकरण या सूत्रका उत्थान होता है।

जन्माद्यस्य यतः ॥२॥

पूर्व कर्मोंका जिसपर अध्यास या मिथ्या आरोप हुआ है उस पुरुष के भोगके लिये प्राप्त, तरह तरहके नाम और रूपोंसे परिचित, अनेक कर्त्ताओं और भोक्ताओंसे सम्बद्ध और देशकाल निमित्तक अनेक क्रियाओंके फलका आश्रय, जिसकी रचनाकी कल्पना मन भी नहीं कर सकता, वह शरीर या जगत् है, और इस शरीर जगत् या ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति स्थिति और प्रलय जिस मायापुरुषकी लीलामात्र है वही ब्रह्म है और वही आत्मा है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म। —तैत्ति० ३।१

जिससे इन सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है, जो उत्पन्न होते हैं वे जिसकी कृपासे जीते हैं और अन्तमें जिसमें सब लीन हो जाते हैं उसको जानो—जाननेका यत्न करो, वही ब्रह्म है। दूसरी श्रुति बतलाती है—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्ति।

—तैत्ति० भृगुवल्ली ६

ये सब भूत (जीव) आनन्दसे उत्पन्न हुए हैं, आनन्दसे जीते हैं और आनन्दमें ही लीन होते हैं। २

३ शास्त्रयोनित्वाधिकरण (सू० ३)

उस ब्रह्मका प्रमाण देनेके लिये तृतीय अधिकरणका उत्थान हुआ है।

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

सर्वशक्तिसम्पन्न सर्वान्तर्यामी ब्रह्मके होनेका प्रमाण शास्त्र—वेद है। वेद वह ज्ञान है जो अनुभवसे अपने हृदयमें उत्पन्न होता है। सब विचारोंका अन्त वहीं होता है और मानना ही पड़ता है कि जगत्से परे पर जगत्का नियन्त्रण करनेवाली, समस्त विश्वमें ओतप्रोत एक विलक्षण चेतनाशक्ति है जिसका चिन्तन हम आद्याशक्तिके रूपमें करते हैं। अथवा—

शास्यते ज्ञायते एभिरिति शास्त्राणि। अविशेषात् मनसा सह पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि षट्शास्त्राणि। तेषां योनिः स्वाध्यस्त-विषयपरिग्रहार्थं प्रवृत्तौ निदानम्। तद्भावाद् शरीरादिव्यतिरिक्त

आत्मा सिद्ध्यति। यद्वा शास्त्राणि चक्षुरादीनि (स्वपरिगृहीत-विचित्ररचनान्यथानुपपत्या) योनिः प्रमाणं यस्य तद्भावात् सर्वगतं ब्रह्म सिद्ध्यति इति।

जिनसे जाना जाता है वही शास्त्र* हैं। शास्त्र शब्दकी इस व्युत्पत्तिसे पाँच ज्ञानेन्द्रिय (कान, नाक, चर्म—स्पर्शेन्द्रिय, आँख और जीभ—रसनेन्द्रिय) और मन ये ही षट् शास्त्र हैं। ये अचेतन हैं और अचेतन पदार्थ विषयका ग्रहण नहीं कर सकते और ये तो करते हैं अतः विषय परिग्रह करनेकी इनकी इस प्रवृत्तिसे ही अनुमान द्वारा सिद्ध होता है कि शरीरादिसे भिन्न आत्मा या चेतन है।

अथवा इन्द्रियोंसे परिगृहीत आन्तर और बाह्य, भीतरी और बाहरी जगत्की विचित्र रचनाएं सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान्के विना असम्भव हैं। अतः अलौकिक शक्तिशाली जगदीश्वरकी सत्ताका प्रमाण अनुमानकी सहकारिणी इन्द्रियाँ हैं। मनकी सहायतासे अपने भीतर तथा मन सहित पंचज्ञानेन्द्रियोंकी सहायतासे बाहर समस्त भूतोंमें ब्रह्मका अनुभव होता है।

अथवा ऋग्वेदादि शास्त्र उस ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं—'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि। अतः शास्त्र-प्रमाणसे ब्रह्म सिद्ध है। ३

४ समन्वयाधिकरण (सू० ४)

पूर्वप्रज्ञानुसार सुख दुःखादि भोगके लिये प्राप्त इस शरीर द्वारा आम्नायबुद्धिसे आगेके लिये स्वर्गादिसाधक सत्कर्मोंका अनुष्ठान और असत्कर्मोंका त्याग, यह वेदशास्त्रका तात्पर्य है। महर्षि जैमिनि कहते हैं—

* संस्कृतमें 'शास्' धातुका अर्थ सिखाना होता है। अतः शास्यते यानी जिससे सीखा या जाना जाता है वह भी शास्त्र कहलाता है।

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् ॥ १।२।१

एवं 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' (आत्माका दर्शन करना चाहिए, आत्माकी उपासना करनी चाहिए) आदि उपासनारूप कर्मविधायक वाक्योंके साथ उपासनाकी स्तुतिके लिये भी वेद शास्त्रका उपयोग हो सकता है। कहा जा सकता है कि वेदान्त शास्त्रसे आप जिस नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ब्रह्मका प्रतिपादन करना चाहते हैं वह उसका तात्पर्य नहीं है। यद्यपि यह सच है कि जब उपासना करनेकी आज्ञा दी गई है तो उपास्य (जिसकी उपासना की जाती है) भी कुछ है और इस प्रकार आपका ब्रह्म सिद्ध हो जाता है फिर भी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' (शब्दका जो मुख्य तात्पर्य है वही शब्दार्थ है) इस न्यायसे वेदान्तशास्त्रका पर्यवसान केवल इस बातमें होता है कि अनन्त सुखकी प्राप्तिके लिये उपासना करनी चाहिए। इस प्रकारकी बुद्धि उत्पन्न होनेपर भगवान् वेदव्यास चतुर्थ अधिकरणका उत्थान करते हैं—

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

ब्रह्म तो जगत्में प्रसिद्ध है और उसके ज्ञानसे प्राप्त होनेवाली मुक्ति भी सिद्ध है। तब इसे समझानेके लिये वेदान्त शास्त्रका इतना अधिक प्रयत्न करना निष्फल और निष्प्रयोजन कहा जा सकता है। पर बात यह नहीं है। वह जो मेरे शरीरमें निमित्त होकर, या प्रधानका साक्षी पुरुष होकर, अथवा समस्त भूतोंका समवाय शरीर तथा इन्द्रियोंका संयमनकारी वा नियन्ता होकर प्रकाश करता है, मेरे भीतरका वह तथा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिशाली जगदुत्पत्ति-स्थिति-प्रलयका एकमात्र कारण नित्यमुक्त सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ब्रह्म एक है, दोनों अभिन्न हैं, यह ज्ञान शास्त्रके विना अन्य किसी साधनसे प्राप्त नहीं हो सकता। अतः इस ज्ञानके लिये शास्त्रकी आवश्यकता है और वही साध्य है। यह सिद्धान्त

पूर्वकर्मानुसार प्राप्त अपने अपने वेदके द्वारा मनमें स्थिर होता है। अत एव वेदान्त शास्त्र निष्प्रयोजन नहीं वरंच सप्रयोजन, आवश्यक और चरितार्थ है।

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। —मुण्ड० ३।२।९

ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म हो जाता है। उसकी दृष्टि विस्तीर्ण होती है। वह सर्वत्र अपनी आत्माका दर्शन करता है। वह विश्वको इस लिये सुखी करना चाहता है कि उससे उसकी आत्माको सुख मिले। भेद-बुद्धिके नष्ट होने पर शोक और मोह आप ही नष्ट हो जाते हैं। वह आत्माराम होकर सर्वत्र रमता है। यही वेदान्त शास्त्रका प्रयोजन है।

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।—ईशा० ७।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।—तैत्ति० २।९

स्थान और प्रकरणके अनुसार सब शास्त्रोंका समन्वय जगत्से विलक्षण उस ब्रह्ममें हो जाता है। अतः उपनिषदादि शास्त्रोंका अभिधेय वही है।

१. सदेव सोम्येदमग्र आसीत्॥ —छां० ६।२।१

यह जो मेरे शरीरके भीतर प्रकाश करता है वह सृष्टिके पूर्वमें केवल 'सत्' रूपसे व्यवस्थित था।

२. आत्मा वा इदमेकमग्र आसीत्। —ऐत० २।१।१।१

वही आत्मा रूपसे पूर्वमें था।

३. एकमेवाद्वयं ब्रह्म। —छां० ६।२।१

वही एक अद्वितीय और बृहत् रूपसे ब्रह्म होकर विराजता है।

४. अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः। —बृह० २।५।१९

यह आत्मा ही ब्रह्म है और वह सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

५. ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चात् दक्षिणतश्चोत्तरेण।

अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।

—मुण्ड० २।२।११

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शाब्द प्रमाणोंसे जगत्में सर्वत्र प्रसिद्ध ब्रह्म अमृत रूपमें हमारे आगे, पीछे, ऊपर और नीचे है ।

६. तत्त्वमसि श्वेतकेतो । —छां० ६।८।७

हे श्वेतकेतो, जीवात्मन्, तूं भी वही परमात्मा है ।

७. तदात्मानमेव वेद अहं ब्रह्मास्मीति तत्सर्वमेवाभवत् ।

—वाजसनेय ब्रा. १।४।१०

इस प्रकार जिसको निश्चित हो गया कि मैं ही ब्रह्म हूँ वह सर्वात्मक हो जाता है। उसके लिये कोई वस्तु वाञ्छनीय नहीं रह जाती ।

इस प्रकार स्थान और प्रकरणसे जब अपनी श्रुतिसे निश्चय हो गया कि मैं या दूसरा, आन्तर वा बाह्य, स्थावर वा जंगम सब ब्रह्म है, नाम रूपकी विचित्रताके भेद केवल काल्पनिक हैं, तब उपासना नहीं हो सकती । उपासनाके लिये दो की आवश्यकता होती है—उपासक और उपास्य । अपनी श्रुति बतलाती है—

यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कम्पश्येत् ।

—बृह. २।४।१४

सर्वत्र एकात्मज्ञान हो गया तो कौन किसको देख सकता है ? कैसे किसीकी उपासना हो सकती है ?

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

—श्वेताश्व. ६।११

वही एक देव सब भूतोंमें ओतप्रोत होकर सबकी अन्तरात्माके

रूपमें सर्वत्र व्याप्त है। वह इस कर्मरूप शरीरका अध्यक्ष, निर्गुण होते हुए भी चेतना शक्तियुत है और पूर्वके कर्मोंका साक्षी होकर सब भूतोंमें (प्राण धारण करके) जीव रूपसे वास करता है।

आत्मानं चेद्विजानीयादहमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥
—बृह. ४।४।१२

इसका भावार्थ यह है कि जिसने निश्चित कर लिया कि 'मैं ही आत्मा हूँ' वह सब कामनाओंसे मुक्त हो जाता है और उपासना या तपश्चर्याका प्रपंच उसे स्पर्श नहीं कर सकता।

एतद्बुध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत!
—गीता १५।२०

हे अर्जुन, बुद्धिमान् मनुष्य शरीरस्थ आत्माका साक्षात्कार करके कृतकृत्य हो जाता है अर्थात् उसे करनेके लिए और कुछ नहीं रह जाता—उपासना भी नहीं, तपश्चर्या भी नहीं। ४

५ ईक्षत्यधिकरण (सू० ५–११)

पूर्वकर्मोंका ईक्षण करके (देखकर) पुरुष आत्माके प्रधान जीवको व्यापारमें लगाता है और उसीके अनुसार जीवको सुख दुःख भोगना पड़ता है। ५

६ आनन्दमयाधिकरण (सू० १२–१९)

आत्मा पूर्ण आनन्द है। उसका अंशभूत यह जीव प्रारब्धानुसार संसारके बन्धनोंमें पड़ा हुआ आंशिक आनन्द प्राप्त करता है। हानि लाभ प्रारब्धानुसार होते रहते हैं, उनपर किसीका वश नहीं, यह बात

निरन्तर अभ्याससे जान लेनेपर कामनाओंसे मुक्ति होती है और पुरुष आनन्दमय हो जाता है। ६

७ अन्तरधिकरण (सू० २०–२१)

जिस तरह हमें अपने पूर्व कर्मोंका फल दिलानेके लिये हमारे भीतर बैठकर ब्रह्मका अंशभूत पुरुष साक्षी होकर अपने जगत्का सञ्चालन करता है उसी तरह समस्त जड़ और चेतन जगत्में, समस्त भूतोंमें और भूतोंके अधिपति आदित्यमें ओतप्रोत होकर वही परमपुरुष विश्व-व्यापारका नियन्त्रण करता है। ७

८ आकाशाधिकरण (सू० २२)

जैसे आकाश सर्वत्र और सर्वदा उपलब्ध होता है उसी तरह ब्रह्म भी सर्वत्र और सर्वदा विराजमान है। आकाश जैसे घटादि उपाधियोंसे लघु और महान् होता है उसी प्रकार पुरुष भी कर्मानुसार छोटा एवं बड़ा शरीर धारण करके पुरीमें विहार करता है। ८

९ प्राणाधिकरण (सू० २३)

प्राणोंसे सम्बद्ध होकर ही पुरुष इस जन्ममें प्रारब्ध कर्मोंका उपभोग करता है। प्राणोंकी सहायतासे ही शरीरके सब व्यापार होते हैं। उसीकी प्रेरणासे नेत्र देखते हैं, श्रोत्र सुनते हैं, रसना आस्वाद ग्रहण करती है और मन सोचता है। उसीसे भविष्य सुधारा जा सकता है। उसके न रहनेसे अन्य सब सामग्रियाँ व्यर्थ हैं। अतः प्राण ही सब कुछ है। ९

यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः स यदा प्रबुध्यते प्राणादेव अधिपुनर्जायते।

—शतपथ ब्रा० १०।३।३।६।९

१० ज्योतिश्चरणाधिकरण (सू० २४–२७)

अपने प्रारब्धके अनुरूप ज्योति लेकर जीव उसे भोगनेके लिये इस शरीरमें प्रविष्ट हुआ है और वर्त्तमानमें, उसके चरणोंपर स्थित होकर, उसे भोगता है। यह वही ज्योति है जो आदित्यमें देदीप्यमती दिखाई देती है। १०

११ प्रतर्दनाधिकरण (सू० २८–३१)

प्रतर्दन वायु सब लोकोंमें विचरण करता है। उससे ज्योति उत्पन्न होती है जो समस्त जगत्को आलोकित करती है। उसीकी सहायतासे जीव पूर्वकर्मोंसे उद्धार पाता है। उसी प्रतर्दनके द्वारा इस शरीरसे जीव जो कुछ करता है उसे उसका भोग भविष्यमें मिलता है। इसलिये श्रुति ने वायुको 'संवर्ग' कहा है। कौषीतकी ब्राह्मणमें यही बात प्रतर्दन और इन्द्रके उपाख्यानसे स्पष्ट की गयी है। बल वायुसे बनता है अतः वही इन्द्र है। ११

इति प्रथम पाद समाप्त।

द्वितीय पाद

१ सर्वत्र प्रसिद्ध्यधिकरण (सू० १–८)

जड़ और चेतनमें आत्मा अदृश्य है। सृष्टिके विषयमें वह ब्रह्मरूपसे दृश्य है। सृष्टि नाम और रूपकी है। उसका व्यापार शब्दसे होता है। उसी ब्रह्मका नाम सुना जाता है और रूप देखा जाता है। सृष्टिके दो भाव यही हैं और यह सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। १

२ अत्रधिकरण (सू० ९–१०)

जैसे मृत्तिकासे निर्मित घट नाम और रूपसे मृत्तिकासे भिन्न होकर व्यापारमें आता है, व्यापारके समाप्त हो जाने पर घट नष्ट होकर

पुनः मृत्तिकामें लीन हो जाता है, उसी तरह नाम और रूपका यह जगत् ब्रह्मसे भिन्न जीवभावमें दृष्टिगोचर होता है और कर्मफल समाप्त हो जाने पर ब्रह्म ही कालरूपसे इसे ग्रस लेता है। जगत्का उत्पादक वही और भक्षक भी वही है। २

३ गुहाप्रविष्टाधिकरण (सू० ११–१२)

वह ब्रह्म पुरुष-भावसे कर्मानुसार छोटे या बड़े गुहारूप हृदयमें प्रवेश करके जगत्का अनुभव करता है। ३

४ अन्तराधिकरण (सू० १३–१७)

आंखकी पुतलीके भीतर जो पुरुष दिखाई देता है वह उसी पुरुषका लघुरूप है जो आदित्य मण्डलमें विराजमान है। ४

५ अन्तर्याम्यधिकरण (सू० १८–२०)

वही पुरुष सर्वान्तर्यामी होकर कर्मोंका नियन्त्रण और पूर्वका स्मरण करके मनमें निश्चय करता है। ५

६ अदृश्यत्वाधिकरण (सू० २१–२३)

यह पुरुष एक भाव और व्यापकरूपसे अदृश्य होकर सर्वत्र विद्यमान है। वही आत्मा है। उसकी सत्ता समस्त विश्वमें ओतप्रोत है। ६

७ वैश्वानराधिकरण (सू० २४–३२)

जो अलग अलग घरोंमें प्रकाश करता है और जिससे समष्टि भी प्रकाशित होती है उस पुरुषकी ज्योति ही विश्वमें वैश्वानरके रूपसे कर्मानुसार भुक्त हविको पकाकर फल देती है और भविष्यके कर्मोंका निर्माण करती है। ७

इति द्वितीय पाद समाप्त।



तृतीय पाद

१ द्युभ्वाद्यधिकरण (सू० १–७)

आत्मा अणु है। उसका विभाग नहीं हो सकता। चींटी और डांसके भीतर भी वही अदृश्य रूपसे विद्यमान है। आत्मा महान् है। उसीमें द्यौ, पृथिवी, अन्तरिक्ष, मन, वाक्, प्राण आदि सब समाविष्ट हैं। जो उसको जानता है वह आत्मरूप सेतुसे तर जाता और अमृत हो जाता है। १

२ भूमाधिकरण (सू० ८–९)

आत्मा भूमा है क्योंकि भूमि आदि सब लोक उसमें हैं। उसके सम्पर्कसे प्राण, मन, शरीर और भूमि भी भूमा कहे जाते हैं। वह महान् होने पर भी अदृश्य और सर्वज्ञ है। उसमें छोटे बड़ेका भेद जीवके कर्मोंसे होता है। २

३ अक्षराधिकरण (सू० १०–१२)

जो महान् है वह अक्षर है। जो अल्प है वह क्षर वा विनाशी है। आत्मा सबसे महान् है अतः वह अक्षर और अविनाशी है। ३

४ ईक्षतिकर्माधिकरण (सू० १३)

पूर्वके पुरुषार्थको प्राप्त करनेके लिये जीव ईक्षण (दर्शन) करता है और पुरुष उसे पुरुषार्थकी प्राप्ति कराता है। ४

५ दहराधिकरण (सू० १४–२१)

शरीरके भीतर ब्रह्मपुर वा हृदयमें विकसित कमलके दहराकाशमें हंस स्वरूप पुरुष विराजमान है, उसका निरीक्षण करना चाहिये। वही जिज्ञास्य अर्थात् जानने योग्य है। ५

यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति।

—छां० ८।१।१

६ अनुकृत्यधिकरण (सू० २२–२३)

शरीरके हिरण्मय कोशरूप हृदयमें कर्मोंके अनुसार जो ज्योति रहती है वह आदित्यकी ज्योतिकी अनुकृति है, उसका ज्ञान आत्मवित्‌को होता है। ६

७ प्रमिताधिकरण (२४–२५)

तेजोमय अङ्गुष्ठमात्र पुरुष पूर्वशरीरके कर्मोंका साक्षीमात्र होकर इस शरीरमें उसका उपभोग जीवको कराता है। वह पहले भी प्रमित वा साक्षी था, आज भी है, भविष्यमें भी रहेगा। ७

८ देवताधिकरण (२६–३३)

'विद्' धातुका अर्थ जानना होता है उससे निष्पन्न होनेके कारण 'वेद'का अर्थ (सात्त्विक) ज्ञान है। वेदका आविर्भाव मनमें होता है अतः वैदिक कर्म, वेदाध्ययन और वेद श्रवणका अधिकार मनुष्यको अर्थात् समनस्कको होता है। विना मनोनियोगके—विना श्रद्धाके जो कर्म किया जाता है वह निष्फल होता है अतः अमनस्कको किसी कार्यका अधिकार नहीं है। देवता सामर्थ्यवान्‌ समनस्क और अर्थी हैं अतः उनको भी वेदान्तश्रवण और वैदिक कृत्यका अधिकार मनुष्यकी तरह ही है।

जब इन्द्रियाँ अपने विषयपर आधिपत्य करती हैं अर्थात् विषयकी दासी स्वयम् न बनकर उसे अपना दास बनाती हैं तब उन्हें देवता कहते हैं। वे ही जब ज्ञानकी जननी होती हैं तो ऋषि संज्ञाको प्राप्त होती हैं।

पर जब वे पूर्वकर्मानुसार भोग करने लग जाती हैं तो उन्हें इन्द्रिय वा गो कहते हैं। इसी दृष्टिसे बृहदारण्यकमें प्राणको मुख्य देवता कहा है। उसीके रूपान्तर हैं अन्य इन्द्रियाँ। "कतम एको देव इति प्राणः"—बृह० ३।९।९

(यदा) सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति। तदेनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वैं रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति। स यदा प्रतिबुध्यते यथाग्नेर्ज्वलतो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः॥ —कौ० ३।३

जब पुरुष गहरी नींदमें रहता है तब प्राण सब प्रपंचोंसे छूटकर एक हो जाते हैं। नामके साथ वाणी, रूपके साथ नेत्र, शब्दके साथ कर्ण और ध्यानके साथ मन आकर उसीमें लीन हो जाते हैं। जब फिर पुरुष जागता है तो जैसे आगके जलनेपर उसकी चिनगारियाँ अपने अपने नियत स्थानमें जाकर प्रकाश करने लग जाती हैं उसी प्रकार आत्मभावको प्राप्त पुरुषसे सब प्राण और प्राणोंसे देवता (जो सुषुप्तिमें आकर प्राणोंमें लीन हो गए थे) आविर्भूत होते हैं और अपने अपने लोकोंमें-स्थानोंमें बैठकर सृष्टिसंचालन करने लग जाते हैं। इस श्रुतिसे देवता शब्दका इन्द्रिय अर्थ स्पष्ट है। इस श्रुतिसे यह भी सिद्ध होता है कि सृष्टि पूर्वकर्मानुसार होती है। स्मृतिमें भी यह बात प्रसिद्ध है।

१. युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

—म. भा.

२. तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्या प्रतिपेदिरे।
यान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥

३. हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तत्स्यात्तत्तस्य रोचते ॥

(१) युगके अन्तमें इतिहास सहित जो वेद लुप्त हो गए थे उनको स्वयंभू वाली मनसे आदिष्ट होकर शरीरस्थ गौतमादि इन्द्रिय रूप महर्षियोंने वर्तमान शरीरमें तपस्यासे प्राक्तन संसारको उद्बुद्ध करके प्राप्त किया।

(२) पूर्व सृष्टिमें जिन जिन जीवोंके जो जो कर्म रहते हैं वे फिर शरीर धारण करनेपर उन्हें अवश्य प्राप्त होते हैं।

(३) हिंसक, क्रूर आदि प्राणी अपनी पूर्व हिंसा और क्रूरताके अनुरूप; और मृदु शान्त दान्त प्राणी अपनी मृदुता, शान्तता आदिके अनुरूप व्याघ्रसिंहादि और ब्राह्मण तपस्वी आदि होकर तदनुकूल धर्मका भोग करते हैं। ८

९ अपशूद्राधिकरण (सू० ३४—३८)

बाह्यसृष्टिके अनुरूप आन्तर जगत्का भी निर्माण हुआ है। शरीरके भीतर चारो वर्ण हैं। श्रुतिसम्पन्न श्रोत्रवच्छिन्न चेतन ब्राह्मण है। सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियोंका नेता तथा रूपादि रजोगुणका राजा नेत्र क्षत्रिय है। भक्षण क्रियासे रस संग्रह कर समस्त अंग-प्रत्यंगोंसे व्यापार करनेवाली रसना वा मुखावच्छिन्न चेतन वैश्य है। एवं गन्धग्राहक घ्राण (नाक) तथा कर्मेन्द्रियाँ वा शरीर केवल कर्म करने योग्य होनेके कारण शूद्र है। पूर्वकी इन्द्रियाँ और मन पूर्वकर्मके साक्षीभूत पुरुषके उपभोगमें सहायता करती और जीवका भावी कर्मपथ बना देती हैं,

इसलिये इन्हें हम द्विज कहते हैं। जो बाकी बचीं वे केवल वर्तमानमें प्रारब्ध भोग कराके अपना कर्तव्य समाप्त कर देती हैं अतः इन्हें चतुर्थ वर्ण, एक जाति व शूद्र वर्ण मनुने कहा है। इनका सम्बन्ध शरीरके साथ है इस लिये शारीर मीमांसाके इस अधिकरणमें इनकी व्याख्या कर दी गई। सारांश, शरीरका नाम शूद्र है। शरीरके कर्मोंके अनुसार प्राणोंके साथ जो भविष्य शरीरका सम्बन्ध कर देता है वह जीव है। ९

१० कम्पनाधिकरण (सू० ३९)

पूर्व कर्मानुविद्ध और पंच वृत्तियोंसे युक्त प्राण (प्राणकी ये पाँच वृत्तियाँ हैं–प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान) व्यष्टि रूपसे शरीरमें और समष्टि रूपसे बाह्य सारे जगत्का कम्पन करनेवाला वायु ब्रह्म है। १०

११ ज्योतिरधिकरण (सू० ४०)

वही ब्रह्म जब नेत्रान्तर्गत ज्योतिःस्वरूप पुरुष रूपसे शरीरमें और आदित्य रूपसे बाह्य जगत्में प्रकाश करता है तो उसकी उष्मासे शरीरके भीतर पाँच प्रकारके और बाह्य जगत्में सात प्रकारके वायुकी उत्पत्ति होती है। वही वायु शरीरमें तथा विश्वमें पुरुषको अर्थके साथ वर्तमान और भविष्यमें संयुक्त वियुक्त कराता है। ११

१२ अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरण (सू० ४१)

वही ब्रह्म अन्य अर्थमें आकाश भी कहा जाता है। उसके अतिरिक्त आकाश कोई वस्तु नहीं है। १२

१३ सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरण (सू० ४२–४३)

जैसे सुषुप्तिमें (गहरी नींदमें) सब इन्द्रियाँ मनमें और मन सुषुम्ना नाडी द्वारा आत्मामें लीन हो जाता है और प्रबुद्ध होनेपर पूर्व

संस्कारके अनुसार प्राणी निर्दिष्ट कर्मोंमें लग जाता है, उसी प्रकार पूर्व शरीरसे उपार्जित प्रारब्ध कर्म भोग लेनेपर संकल्पानुसार प्राण कर्मानुसार भविष्यमें दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है और ऐसा होनेपर उसे जीव कहते हैं। १३

इति तृतीय पाद समाप्त।



चतुर्थ पाद

१ आनुमानिकाधिकरण (सू० १–७)

रथी पुरुष शरीर-रथमें बैठकर बुद्धि सारथीकी प्रेरणासे मनरूपी लगामके सहारे दुर्दान्त इन्द्रियरूपी घोड़ोंका विषयोंसे संयमन करता है। किसी कार्यका आरम्भ करनेके पहले उसके अनुकूल विधि और साधनोंका अनुमानके द्वारा बुद्धिमें निश्चय कर लेता है तो उस कार्यका फल उसे अवश्य प्राप्त होता है। पुरुष और मनका साथ न होनेके कारण कभी कभी इन्द्रियोंमें चांचल्य उत्पन्न हो जाता है और विषय संशयमें रह जाता है तो वह कार्य निष्फल हो जाता है। १

२ चमसाधिकरण (सू० ८–१०)

चमसके द्वारा अग्निमें दी हुई हविको प्राप्त करके देवगण तृप्त होते हैं, उसी प्रकार हस्त-चमस द्वारा मुखमें प्रक्षिप्त हवि प्राप्त करके शरीरस्थ देवता कर्मानुसार भोग करके तृप्त होते हैं। शरीरस्थ प्राकृतिक जीव पूर्वकर्मानुरक्त हो तो लोहित (लाल), पुरुष प्रतिबिम्बित हो तो शुक्ल (सफेद), तथा भविष्य फलके मोहसे मुग्ध हो तो कृष्ण वर्ण कहा गया है। भोग्य कर्म समाप्त हो जानेपर पुरुष वर्तमान शरीरका त्याग करके दूसरे शरीरमें जाता है। २

३ संख्योपसंग्रहाधिकरण (सू० ११–१३)

सृष्टिके प्रारम्भमें आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी इन पाँच सूक्ष्मभूतोंके दो दो समान भाग होते हैं। फिर एक एक अर्द्धके चार चार सम भाग होते हैं। अनन्तर एक सूक्ष्मभूतके अर्द्धांशमें अन्य चार भूतोंमेंसे प्रत्येकके अर्द्धांशोंका चतुर्थांश मिल जाता है। इस संयोगको पंचीकरण* कहते हैं। पञ्चीकरणसे स्थूलभूत बनते हैं। इन स्थूलभूतोंके अंशसे शरीर तथा समस्त स्थावर जंगमकी रचना हुई है। भोग्य-पदार्थोंमें २५ तत्त्वोंका सम्मिश्रण होनेसे उनके द्वारा जीवको भोग प्राप्त होता है। शरीरमें एक एक तत्त्वपञ्चकका नियन्त्रण करनेके लिये पाँच वायु प्रतिष्ठित हैं। कर्मानुसार उनकी संज्ञा क्रमसे देव, पितर, गन्धर्व, असुर और राक्षस होती है। कर्मके अनुसार ही शरीरमें पूर्वोक्त चार वर्ण और एक पञ्चम निषादवर्ण विद्यमान हैं। गर्भावस्थामें अत्यन्त दुःख-संतप्त होनेके कारण ("निषीदति—नितरां दुःखमनुभवति" इस व्युत्पत्तिके अनुसार) जीवकी निषाद संज्ञा होती है। बाहर आनेपर उसी शरीरकी शूद्र संज्ञा होती है अतः उसे ज्ञानका अधिकार वा सामर्थ्य नहीं है। ३

४ कारणत्वाधिकरण (सू० १४–१५)

सब भूतोंका व्यावहारिक कारण आकाश है। वही ब्रह्मरूप है। उसीमें प्राणीकी प्रतिष्ठा है। कर्मानुसार छोटा या बड़ा आकाश चींटीसे हाथी तक सब प्राणियोंको प्राप्त होता है। ४

---

* स्थूल आकाशमें सूक्ष्म आकाशका अर्द्धांश तथा अन्य चार सूक्ष्म भूतोंमेंसे प्रत्येकका अष्टमांश होता है। बाकीके चार स्थूल भूतोंकी रचना भी ऐसे ही होती है। अर्थात् प्रत्येक सूक्ष्म भूतमें स्वांशका आधा और शेष चार भूतोंमेंसे प्रत्येकका अष्टमांश (आधेकी चौथाई) होता है।

५ वालाक्यधिकरण (सू० १६–१८)

पूर्वकर्मानुसार जीवको भोग्यप्राप्ति करानेके लिये हृदयपुण्डरीकमें विराजमान परमेश्वर अपने अपने जगत्का कारण है। देशकालरूप निमित्त उपस्थित होनेपर वह पञ्चकोशात्मक देहका सम्बन्ध प्रासव्य अर्थसे करा देता है। कौपीतकी ब्राह्मणोपनिषद्में यही बात बलाकी और अजातशत्रुके संवादके रूपमें समझाई गई है। वहाँ पुष्कर-पलाश वा कमलपत्रवत् निर्लेप राग-द्वेपादि-विनिर्मुक्त पुरुप अजातशत्रु और वाग्देवता बलाकी है। ५

६ वाक्यान्वयाधिकरण (सू० १९–२२)

संसारमें पति, पुत्र, जाया, वित्त आदि जो कुछ कर्मानुसार भोग्य प्राप्त हैं उनमें जब आत्मीयता दिखलाई देती है तो प्रेमकी मात्रा बढ़ती है और प्रज्ञाके अनुसार बुद्धिमें उनके साथ भिन्न भिन्न प्रकारके व्यवहार होते हैं। इसी प्रकार कर्मानुसार उनके साथ समान भाव हो जाय तो सब वाक्योंका अन्वय हो जाता है। ६

७ प्रकृत्यधिकरण (सू० २३–२७)

नामरूपसे विभिन्न इस जगत्का व्यापार प्रकृतिकी एकतासे होता है॥ ७

८ सर्वव्याख्यानाधिकरण (सू० २८)

उसी प्रकृतिको योगशास्त्र ईश्वर कहता है, सांख्य प्रधान कहता है और मीमांसाशास्त्र कर्म कहता है। वस्तुतत्व एक ही है। अपने अपने भावके अनुसार भिन्न भिन्न व्याख्या की गई है॥ ८

इति चतुर्थ पाद समाप्त।

प्रथम अध्याय समाप्त।

द्वितीय अध्याय

प्रथम समन्वयाध्यायमें सिद्ध किया गया है कि वेदान्त-प्रतिपाद्य और व्यष्टिमें आभासित ब्रह्म इस शरीर जगत्का कारण है। इसमें आपाततः प्रतीत होनेवाले विरोधका परिहार करने और समष्टिमें ब्रह्मकी सत्ता सिद्ध करनेके लिये द्वितीयाध्यायका आरम्भ किया जाता है।

प्रथम पाद

१ स्मृत्यधिकरण (सू० १–२)

अपने भीतर जिस ब्रह्मका अनुभव होता है वही विभिन्न नामरूपोंसे चराचर जगत्में भी अनुभूत होता है, इस बातकी जिज्ञासा पहले की जा चुकी है। स्मृतियोंमें भी इसीका विवेचन किया गया है। यथा–

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
सम्पश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति॥
—मनु० १२।९१

सब भूतोंमें अपनेको और अपनेमें सब भूतोंको देखता हुआ जो आत्माकी उपासना करता है अथवा बाहर भीतर आत्माको देखता हुआ उसमें स्थित होता है वह आत्मसुख वा अत्यन्त सुख प्राप्त करता है। १

२ योगप्रत्युक्त्यधिकरण (सू० ३)

पूर्वकर्मानुसार जन्म ग्रहण करनेके बाद भविष्यमें इष्ट अर्थकी प्राप्तिके लिये धारणा ध्यान समाधि आदि योगकी आवश्यकता होती है। उसका उद्देश्य है उपाधि-रहित होकर व्यष्टि-ब्रह्मका समष्टि-ब्रह्मसे योग—एकी-

करण। पूर्वकी धारणा और समाधिके द्वारा वर्त्तमानमें ध्यान करनेसे प्रासव्य अर्थके साथ योग होता है। २

३ विलक्षणत्वाधिकरण (सू० ४–११)

नामरूपोंके कारण अनेक विध दिखाई देनेवाला समष्टिब्रह्म वस्तुतः व्यष्टिब्रह्मसे विलक्षण (जुदा) नहीं है। अपने शास्त्रों द्वारा विचार करनेसे सर्वत्र समभाव प्रतीत होता है। ३

४ शिष्टापरिग्रहाधिकरण (सू० १२)

जिसका समन्वय अपनी आत्माके साथ नहीं हो सकता उसका परिग्रह शिष्टजन नहीं करते। ४

५ भोक्तापत्यधिकरण (सू० १३)

पुरुष जैसे स्वयम् ही द्रष्टा और दृश्य भी है उसी प्रकार वह भोग्य और भोक्ता भी है। जगत्‌रूपसे समष्टिभावमें भोग्य और ब्रह्मरूपसे व्यष्टिभावमें भोक्ता है। ५

६ आरम्भणाधिकरण (सू० १४–२०)

ब्रह्म आनन्दमय है। उसका अंशभूत जीव भी कर्मोंके द्वारा आनन्द का उपभोग करता है। ब्रह्मसे आरब्ध विवृत वा उत्पन्न चराचर विश्व भी आनन्दमय ही है। दुःखका प्रारब्धानुसार प्राप्त अन्तःकरणमें होनेवाला आभास मात्र होता है। ६

७ इतरव्यपदेशाधिकरण (सू० २१–२३)

वस्तुतः आन्तर ब्रह्म और बाह्य ब्रह्म—हम और विश्व अभिन्न हैं पर भेदके बिना सांसारिक व्यापार हो नहीं सकता अतः अपनेसे पृथक् अन्यकी कल्पना की जाती है। ७

८ उपसंहारदर्शनाधिकरण (सू० २४–२५)

जिस प्रकार आकाश, वायु तेज जल और पृथ्वीको उत्पन्न करके बाद उनका उपसंहार उलटे क्रमसे अपनेमें ही कर लेता है उसी प्रकार पुरुष भी पूर्व कर्मोंको लेकर अपने जगत्‌की रचना कर लेता है और कर्मभोग समाप्त हो जाने पर अपनेमें ही उसका उपसंहार भी करता है। दहराकाश और महदाकाशका भेद काल्पनिक है। ८

९ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरण (सू० २६–२९)

जिस प्रकार इस शरीरकी उत्पत्ति प्राणोंसे हुई है उसी प्रकार कृत्स्न (समस्त) विश्वकी उत्पत्ति भी प्राणोंसे ही होती है। उसको व्यष्टिमें प्राण और समष्टिमें वायु कहते हैं। ९

१० सर्वोपेताधिकरण (सू० ३०–३१)

परमात्माकी जो ज्योति हमारे कर्मानुसार हममें प्रकाश करती है और जिसके आश्रयसे हम विविध व्यापार करते हैं वही समष्टिमें भी सर्वत्र प्रकाश पहुँचाती है। वह सबमें और सर्वत्र ओतप्रोत और सर्वशक्तिसम्पन्न है। १०

११ प्रयोजनवत्त्वाधिकरण (सू० ३२–३३)

यद्यपि ब्रह्म नित्यतृप्त है, पुरुष भावसे सृष्टिमें आनेकी उसे कोई आवश्यकता नहीं, पर जीवको प्रारब्धका भोग करा देनेके लिये वह लीलामय प्रतर्दन वायु द्वारा सृष्टि कराता है। ११

१२ वैषम्यनैर्घृण्याधिकरण (सू० ३४–३६)

यद्यपि समस्त विश्वकी उत्पत्ति ब्रह्मसे ही हुई है फिर भी जीव अपने कर्मानुसार सुखी और दुःखी, धनी और गरीब होता है। यह वैचित्र्य

अपने कर्मके अनुसार होता है। ईश्वरका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि उसका किसीके साथ राग या द्वेष नहीं है। यदि ऐसा होता तो उसमें वैषम्य और नैर्घृण्य होता तथा उसपर पक्षपातित्व या क्रूरताका दोषारोप किया जा सकता, पर वह निर्लेप है। १२

१३ सर्वधर्मोपपत्यधिकरण (सू० ३७)

उसका किसीसे विरोध नहीं है इसीसे वह धर्मस्वरूप होकर संसारका धारण करता है।

धर्मी वह है जिसमें अनेक धर्मोंके साधनकी शक्ति है और धर्म वह है जिसके द्वारा एक ही कार्य साधा जाय। मन धर्मी है और इन्द्रियां धर्म हैं। इन्द्रियां एक एक कार्यको ही सिद्ध कर सकती है पर मन उन सबके साथ अनेक कार्य कराता है। १३

इति प्रथम पाद समाप्त।



द्वितीय पाद

१ रचनानुपपत्यधिकरण (सू० १–१०)

सर्वत्र सर्वशक्तिसम्पन्न चेतन भीतर बाहर सर्वत्र व्याप्त है। साक्षात् वा परम्परया चेतनसे सम्बन्ध होनेसे ही कोई कार्य होता है। माताके गर्भमें बच्चेकी रक्षाके लिये वह नाभितन्तुके द्वारा जरायुपटकी रचना करता है और उसमें छिपकर वही अनेक चेष्टाओंके आश्रय इस शरीरका निर्माण करके उसे बाहर घटरूपसे प्रकाशित करता है। मनोहर गुलाबके फूलोंमें बैठा हुआ वही अपनी विचित्रतासे उसकी सुहावनी पखनियोंकी कतारमें जीरोंको परागसे सुगन्धित करता है। वह चित्र

विचित्र रचना उस लीलामय पुरुषके बिना हो नहीं सकती। इस प्रकार वस्तुमात्र उसको अभिव्यक्त करती हैं। घट घटमें उसकी सत्ता व्यवस्थित है। १

२ महद्दीर्घाधिकरण (सू० ११)

ब्रह्म जीवभावसे प्रारब्धानुसार जगत् रचता है और कर्मोंकी समाप्ति पर भक्षक बनकर उसे ग्रस लेता है। महान् और अणुके रूपमें वह चराचरमें व्याप्त है। चींटी और हाथीमें, रेणु और पर्वतमें, पृथिवी और आकाशमें उसीकी महिमा है। कर्मोंके अनुसार वह छोटा या बड़ा दिखाई देता है। २

३ परमाणुजगदकारणत्वाधिकरण (सू० १२—१७)

वह ब्रह्म समष्टिमें पृथिव्यादि चतुर्विध भूतोंका परमाणुरूपसे समवायी कारण बनकर सर्वत्र विद्यमान है। जिसका विभाग नहीं हो सकता उसे परमाणु कहते हैं। वह दो परमाणुओंसे द्व्यणुक, तीन द्व्यणुकोंसे त्रिसरेणु और चार त्रिसरेणुओंसे चतरेणु और चतरेणुओंसे ब्रह्म आदित्यके स्वरूपसे स्थूल जगत्का निर्माण करता है।

सांख्यके चौबीस तत्त्वों सहित जीव भीतर गुहामें प्रविष्ट है। चौबीस बाहरके और चौबीस भीतरके तत्त्वों द्वारा पुरुष जीवको अर्थ प्राप्त कराता है। इस प्रकार जीव केवल चौबीस तत्त्वोंका और पुरुष अड़तालीस तत्त्वोंका अध्यक्ष है। दोनों शरीररूप पुरीमें रहते हैं पर जीव मनके द्वारा भोग करता है और पुरुष सृष्टिका अध्यक्ष बनकर फल देता है। ३

४ समुदायाधिकरण (सू० १८—२७)

ज्योतिःस्वरूप पुरुष जैसे नेत्रमें स्थित होकर समस्त शरीरको आलोकित करता है वैसे ही वह सर्वत्र रहकर बाह्य समुदायरूप जगत्को भी

आलोकित करता और जीवके कर्मानुसार उसे विषयकी प्राप्ति करा देता है। एक भाव होनेके कारण श्रुतिने पुरुषको नेत्रकी ज्योतिःस्वरूप बतलाया है। ४

५ अभावाधिकरण (सू० २८—३२)

वह अन्तर्यामी है। सर्वत्र व्याप रहा है। श्रद्धा और विश्वास हो तो वह चाहे जहाँ और चाहे जिस रूपमें मिल सकता है। उसका अभाव कहीं नहीं है। इसीसे श्रुतिने उसे ज्ञान-विज्ञान स्वरूप बताया है। ५

६ एकस्मिन्नसम्भवाधिकरण (सू० ३३—३६)

जैसे अदृश्य होकर अग्नि सर्वत्र विद्यमान है वैसे ही आत्मा सर्वत्र गूढ़ रूपमें विद्यमान है। ६

७ पत्यधिकरण (सू० ३७—४१)

आत्मा वस्तुमात्रका अधिष्ठाता है। समस्त विश्वका पति होकर वह सर्वत्र और सदा वैश्वानरके रूपमें अनुभूत होता है। ७

८ उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण (सू० ४२—४५)

आत्मासे समष्टि और व्यष्टि जगत्की उत्पत्ति हुई है। दूसरा कोई उत्पादक नहीं है। ८

इति द्वितीय पाद समाप्त।

तृतीय पाद

१ वियदधिकरण (सू० १—७)

ब्रह्म आकाश-स्वरूप होकर अपनेमें द्यौ, आन्तरिक्ष, भू, मन, वाक्, प्राण आदिका संग्रह करता है और कर्मोंका अवसान होनेपर सबका व्यय कर देता है। आकाश उस ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है और सृष्टिके विषयमें नित्य है। १

२ मातरिश्वाधिकरण (सू० ८)

जैसे शरीरके भीतर जबतक जीवन है तबतक पञ्चप्राणोंके व्यापार होते रहते हैं, उसी तरह समष्टिमें सप्तविध वायुके व्यापार निरन्तर होते रहते हैं। इसीसे श्रुतिने वायुको अनस्तमिता (कभी अस्त न होनेवाला) देवता कहा है। २

सैषानस्तमिता देवता यद्वायुरिति।

—बृह० १।५।२२

३ असम्भवाधिकरण (सू० ९)

आत्मा सत्स्वभाव और सामान्य है। विशेष उससे उत्पन्न होते हैं। वह किसीका विशेष नहीं है इसीसे वह अज और अमृत है। इसीसे श्रुतियाँ उसे अक्षर कहती हैं। आकाशादिको वह उत्पन्न करता है पर उसकी उत्पत्ति असम्भव है। ३

४–५–६ तेज, अप, पृथिवी अधिकरण (सू० १०—१२)

जैसे व्यष्टिमें प्राणीके उपभोगके लिये प्राण, मन और इन्द्रियोंकी सहायतासे समस्त धातु उपधातुओंका समवाय करता है, उसी तरह समष्टि जगत्‌में भी जीवके उपभोगके लिये ब्रह्मसे आकाश और वायुकी

उत्पत्ति होती है। वायुसे तेज, तेजसे जल और जलसे पृथिवीकी उत्पत्ति होती है। इन पञ्चभूतोंके अद्भुत संयोग और विभागसे यह विचित्र जगत् कर्मभोगका सामान बनाकर उत्पन्न होता है। ४, ५, ६

७ तदभिधानाधिकरण (सू० १३)

जैसे तेजोमय पुरुष पूर्वकृतका ध्यान करता हुआ व्यष्टिका नियमन करता है उसी प्रकार आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीका अभिमानी वह पूर्वसृष्टिका ध्यान करता हुआ बाह्य जगत्का निर्माण कर व्यष्टिसे उसका भोग कराता है। ७

८ विपर्ययाधिकरण (सू० १४)

कार्य कारणसे उत्पन्न होता है और बाद उसीमें लीन हो जाता है। इस नियमके अनुसार पृथ्वी जलमें, जल तेजमें, तेज वायुमें और वायु आकाशमें लीन हो जाता है। ८

९ अन्तराविज्ञानाधिकरण (सू० १५)

प्रारब्धानुसार प्राणोंके साथ पुरुषके गर्भमें आनेके पश्चात् पंचभूतोंका समवाय पिण्ड शरीर बनता है। अनन्तर प्रज्ञानुसार प्राण मनको और मन ज्ञानेन्द्रियोंको (जो उत्क्रान्तिके समय मनमें लीन हो गई थीं) आविर्भूत करता है। धीरे धीरे सर्व अवयवयुक्त होकर गर्भ बाहर आता और प्रारब्धका भोग करने लगता है और क्रियाद्वारा आगेका शरीर बनाता है। ९

१० चराचरव्यपाश्रयाधिकरण (सू० १६)

समष्टि और व्यष्टिमें चराचर वा स्थावर-जङ्गमका आश्रय बनकर ब्रह्म प्रकम्पन वायुके रूपमें अन्तरिक्ष और शरीरमें विचरण करता है। १०

११ आत्माधिकरण (सू० १७)

आत्मा सर्वत्र व्यापक पर अदृश्य है। वह अजन्मा और शाश्वत है। उसकी सत्ता मात्रसे पंचाभिमानी देवता भूतोंमें और पंच ज्ञानेन्द्रिय देवता शरीरमें स्थित होकर प्राणीके कृतकर्मानुसार उसको उपभोग कराते हैं। ११

१२ ज्ञाधिकरण (सू० १८)

वह आत्मा शुद्ध ज्ञान स्वरूप है। उसका दूसरा कोई स्वरूप नहीं है। १२

१३ उत्क्रान्तिगत्यधिकरण (सू० १९–३२)

आत्माका प्रतिनिधि होनेके कारण जीव व्यापक और महान् है सही पर कर्मभोगके लिये उसे मनके साथ अणु होकर व्यापार करना पड़ता है। इसी अर्थमें श्रुतियोंने उसे मनोमय कहा है। प्रारब्ध भोग लेनेके बाद जीव प्राणोंके साथ नेत्र, मूर्धा अथवा अन्य किसी रन्ध्रसे निकलकर चन्द्रलोक तक पहुँचता है। वहाँ कर्मानुसार वास करनेके बाद (क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति) फिर वह वृष्टिके द्वारा व्रीहि (चावल) या यव (जौ) बनकर कर्मलोकमें आता है और उससे वीर्य वा रज होकर फिर शरीर धारण करता है। फलाभिमानी प्राणियों-का आवागमन इस प्रकार सतत होता रहता है। १३

१४ कर्त्रधिकरण (सू० ३३–३९)

पुरुष (जीवात्मा) और ब्रह्म (परमात्मा) वस्तुतः एक हैं। घटाकाश और महाकाशकी तरह इनका भेद केवल काल्पनिक है। अंशभूत पुरुष समस्त लौकिक और वैदिक कर्मोंका कर्ता है। फलकी इच्छा न रखते हुए कर्म करनेसे जीव आत्मा या ब्रह्मका सान्निध्य प्राप्त करता है और फिर लौट नहीं आता—आदित्य स्वरूप होकर फल देता है। १४

१५ तत्त्वाधिकरण (सू० ४०)

बढ़ई काम करते समय अनेक दुःखोंका अनुभव करता है और उससे विरत होनेपर सुखी होता है। उसी तरह जीव भी संसारावस्थामें अनेक भारोंसे आक्रान्त होकर सतत दुःखका अनुभव करता है पर जब वह स्वयम्भू आत्माका सान्निध्य (जो उसका उद्गमस्थान है) प्राप्त कर लेता है तो सारा बोझ उसपरसे उतर जाता है और वह स्वयम् आनन्द-मय हो जाता है। १५

१६ परायत्ताधिकरण (सू० ४१–४२)

जीव पराधीन है। ईश्वर वा साक्षी पुरुष प्रारब्धका निरीक्षण करके उसे कार्यमें प्रवृत्त करता है। तदनुसार जीवको वर्तमानमें भविष्यके कर्मोंका निर्माण करना पड़ता है। ईश्वर या पुरुष रागद्वेषहीन है। वह न किसी पर अनुग्रह करता है न किसीसे द्वेष। जिसने जैसा कर्म किया है उसे वह न्यायाधीशकी तरह वैसा ही फल देता है। १६

१७ अंशाधिकरण (सू० ४३–५३)

ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न, व्यापक, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् सर्वथा स्वतंत्र और सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त है। वह सर्वथा निरपेक्ष है। जीव उसका अंश है अतएव अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, कर्मानुसार प्राप्त परिच्छिन्न-देह-वृत्ति और सर्वथा परतन्त्र है। १७

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। —गी० १५।७

इति तृतीय पाद समाप्त।



चतुर्थ पाद

१ प्राणोत्पत्त्यधिकरण (सू० १–४)

जैसे स्फुलिङ्ग अग्निके प्रसादसे प्रकाशित होते हैं उसी तरह इन्द्रियां जीवके भोग्यको आत्माके प्रसादसे प्रकाशित करती हैं। पुरुषके शरीरमें प्रवेश करनेपर उससे इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं (एतस्माज्जायते प्राणः —मुं०) प्राणका अर्थ है इन्द्रिय। ज्ञान सम्पन्न करनेके कारण श्रुतिने इन्द्रियको ऋषि भी कहा है। यथा—

के ते ऋषयः ? प्राणा वाव ऋषयः।
सप्त प्राणाः प्रभवन्ति यस्मात् ॥ —तै० २।७

दो श्रोत्र (कान), दो चक्षु (आँख), दो घ्राण (नाक) और वाक् ये सात 'प्राण' उससे उत्पन्न होते हैं। इनके सिवा शरीरमें और भी प्राण हैं, पर उत्तमाङ्गमें मस्तिष्करूप ध्रुवके समीप रहनेके कारण ये सप्तर्षिरूप प्राण मुख्य हैं। इसीसे इन्हें 'शीर्षण्य' भी कहा गया है। १

सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः। —तै० सं० ५।१

२ सप्तगत्यधिकरण (सू० ५–६)

दो हाथ, दो पैर और एक पायु (गुदा) ये पाँच कर्मेन्द्रियां हैं। इनमें दोनों हाथ ग्रह और शेष अतिग्रह कहे गये हैं। २

३ प्राणाणुत्वाधिकरण (सू० ७)

ये प्राण (इन्द्रियां) परिच्छिन्न होनेके कारण अणु हैं। ३

४ प्राणश्रैष्ठ्याधिकरण (सू० ८)

शरीरस्थ इन्द्रियोंका संचालन करनेके कारण प्राण श्रेष्ठ हैं। ४

५ वायुक्रियाधिकरण (सू० ९–१२)

श्रेष्ठ प्राण वायुरूप है। ५

६ श्रेष्ठाणुत्वाधिकरण (सू० १३)

चींटीसे हाथी तक सबमें समान व्यापार करनेके कारण श्रेष्ठ प्राण अणु है। एक होनेपर भी वह स्थानभेदसे पाँच भिन्न भिन्न वृत्तियाँ धारण करके कर्मानुसार भोग प्राप्त कराता है। इन वृत्तियोंके ये पाँच नाम हैं—प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान। प्राण व्यापक होनेके कारण ब्रह्म कहा गया है। —प्राणो वै ब्रह्म। ६

७ ज्योतिराद्यधिकरण (सू० १४–१६)

पूर्वोक्त इन्द्रियोंमें ज्योतिरूप अधिष्ठाता देवता बैठे हुए अपने अपने विषयोंका आधिपत्य करते हैं। उन्हींकी प्रेरणासे इन्द्रियां विषयों-का ग्रहण करती हैं और जीवको कर्मानुरूप भोग प्राप्त करा देती हैं। ७

८ इन्द्रियाधिकरण (सू० १७–१९)

यद्यपि (वायु) मुख्य प्राणकी सहायतासे इन्द्रियोंका व्यापार होता है पर ये उससे पृथक् हैं। इनके व्यापारमें प्राण–वायुकी सहायता आवश्यक होती है इस लिये इनको भी प्राण कहते हैं। ८

९ संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरण (सू० २०–२२)

साक्षी पुरुष, इन्द्रिय, प्राण और मनके साथ सूक्ष्मरूपसे पूर्वके भाव और कर्मके अनुरूप नामरूपकी कल्पना करके तेज, जल, पृथिवी या अन्नसे त्रिवृत्त (तीनोंसे युक्त) होकर शरीरमें संचार करता है। जीव परतन्त्र है अतः वह नामरूपकी कल्पना नहीं कर सकता।

पुरुष या ईश्वर पूर्वकर्मोंका निरीक्षण करके नामरूपकी सृष्टि करता है और उसमें जीवको प्रतिष्ठित करता है। ९

इति चतुर्थं पाद समाप्त।

द्वितीय अध्याय समाप्त।

तृतीय अध्याय

प्रथम पाद

१ तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरण (सू० १—७)

कर्मभोग समाप्त हो जानेपर जीव पञ्चभूतोंके सूक्ष्म तत्त्वोंसे वेष्ठित होकर कर्मानुसार चन्द्रलोकमें, जो मनका लोक है, आरोहण करता है। १

२ कृतात्ययाधिकरण (सू० ८—११)

इष्टापूर्ति आदि सत्कर्मका फल चन्द्रलोकमें भोगकर जीव, यदि उसका भाव उत्तम हो तो, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि उत्तम योनिमें जन्म ग्रहण करता है। भाव दूषित हो तो चाण्डाल, कुत्ता, सूअर आदि नीच योनिमें जन्म लेता है। २ यथा श्रुतिः—

य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा। —छां० ५।१०।७

३ अनिष्टादिकार्याधिकरण (सू० १२—२१)

इष्टापूर्तादि धर्म-कर्म करनेवाले प्राणी वर्तमान शरीर त्याग करनेके बाद कर्मफल भोगनेके लिये चन्द्रलोकमें जाते हैं और ज्ञानी भक्त भगवत्सायुज्य प्राप्त करते हैं। उक्त दोनों मार्गोंसे भ्रष्ट प्राणी जो अहर्निश पापचिन्तन वा संसारकृत्यमें लगे रहते हैं वे चन्द्रलोकमें भी न जाकर रौरव आदि नरकसंज्ञक तृतीय स्थानमें जाते हैं।

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

—कठ० १।२।६

धनोन्मादसे उन्मत्त और सदा प्रमाद करनेवाले बालबुद्धि यानी अल्पबुद्धि प्राणियोंको नरकका ध्यान नहीं रहता। वे नहीं जानते कि आजकी सम्पत्ति हमें पूर्वकर्मसे मिली है बल्कि समझते हैं कि हमने अपने इस जन्मके पुरुषार्थसे ही कमायी है। वे परलोककी चिन्ता छोड़कर उस सम्पत्तिका यथेच्छ भोग करते हैं। ऐसे प्राणी बार बार यमके द्वारा नरक-यातना भोगते हैं। देवयान और पितृयानके अतिरिक्त यह तृतीय स्थान है।

एतत्तृतीयस्थानं येनासौ लोको न सम्पूर्यते।

—छां० ५।१०।८

उक्त तृतीय स्थानके प्राणी अण्डज, स्वेदज या उद्भिज होकर कर्मलोकमें लौट आते हैं। ३

४ साभाव्यापत्त्यधिकरण (सू० २२)

इष्टादि सत्कर्म करनेवाले प्राणियोंको चन्द्रलोकसे भूर्लोकमें आनेमें पाँच आहुतियाँ लगती हैं, जिसके बाद पुरुष संज्ञा होकर योनिज शरीर

प्राप्त होता है। प्रथम आहुतिमें चन्द्रलोकसे आकाश सदृश सूक्ष्म होकर आकाशमें, द्वितीयाहुतिमें वायु-स्वरूप होकर वायुमें, तृतीयाहुतिमें वायुसे धूमलोकमें, चतुर्थाहुतिमें धूमसे मेघमें और मेघसे जल होकर पृथिवीपर आकर व्रीहि वा जव होकर मनुष्य देहमें प्रविष्ट करता है। ४

५ नातिचिराधिकरण (सू० २३)

चन्द्रलोकसे आकाशादि स्वरूप प्राप्त करता हुआ जीव अति शीघ्र व्रीहि (अन्न) स्वरूप प्राप्त करता है। इन आहुतियोंमें विलम्ब नहीं होता। ५

६ अन्याधिष्ठिताधिकरण (सू० २४—२७)

व्रीह्यादि स्वरूप प्राप्तिके बाद कर्मानुसार पुरुष वा ईश्वर उन (व्रीहिरूप) जीवोंको ऐसे स्थानमें ले जाता है जहाँ उनके धर्मका भोग होनेवाला होता है। पुरुष निमित्तमात्र होकर उन्हें रेतके द्वारा किसी उपयुक्त प्राणीके शरीरमें प्रविष्ट करा देता है। ६

इति प्रथम पाद समाप्त।



द्वितीय पाद

१ सन्ध्याधिकरण (सू० १—६)

प्राण, कर्मानुसार आत्माके साथ उपयुक्त देहकी सन्धि करा देता है। यह सन्धि या सम्बन्ध जब तक बना रहता है तब तक संसारके सब व्यापार होते रहते हैं। प्राणोंके उत्क्रमण कर जानेपर वह सन्धि टूट जाती है। प्रतिदिन छोटी-छोटी अवान्तर सन्धियाँ भी होती रहती हैं। इन्हें स्वप्न कहते हैं। जाग्रदवस्थाके कार्योंका स्वप्नमें स्मरण होता है। जीवि-

तावस्थाके कार्योंका जैसे मरणमें विस्मरण होता है उसी प्रकार जाग्रद-वस्था और स्वप्नावस्थाकी वातोंका विस्मरण सुषुप्तिमें होता है। (गाढ़ निद्राको सुषुप्ति कहते हैं।) जिस प्रकार सुषुप्तिके बाद उपक्रम वा पूर्व संस्कारोंके अनुसार व्यापार होने लग जाते हैं उसी प्रकार प्रारब्धानुसार प्राण पुनः आत्माके साथ देहकी सन्धि करा देता है और समस्त व्यापार पूर्ववत् चलने लग जाते हैं। १

२ तद्भावाधिकरण (सू० ७–८)

सुषुप्तिमें जीव हृदयके दहराकाशमें प्रतिभासित आत्मज्योतिके साथ एकताका अनुभव करता है। वहां पुरीतत् नाड़ियां भी प्रकाश करती हैं (जिनका आदित्य-रश्मियोंके साथ निरन्तर सम्बन्ध है) उस अवस्थामें जीव स्व-भावका त्याग करके ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त करता है।

जीव जिस संकल्पको लेकर सुषुप्तिमें आत्माके साथ मिलता है वह सत्य होता है पर जो संकल्प स्वप्नमें ही समाप्त हो जाता है—सुषुप्ति तक नहीं पहुँचता वह मिथ्या होता है। इसी तरह वर्तमान जीवनमें पूर्वके जिन कर्मोंका साक्षी ईश्वर (पुरुष) होता है वे सत्य होते हैं, अन्य मिथ्या। २

३ कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरण (सू० ९)

सुषुप्तिमें ब्रह्म भावापन्न जीव जागने पर पुनः जीवभावापन्न हो जाता है और पूर्वकृत कर्मोंका अनुसन्धान करके अवशिष्ट भोगानुसार फिर कर्म करने लगता है। ३

४ मुग्धाधिकरण (सू० १०)

जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और मरण ये चार जीवकी अवस्थाएँ हैं। कभी कभी मुग्धावस्था भी प्राप्त होती है। यह पांचवीं अवस्था है। इसमें

आधी मात्रा जागृतिकी और आधी स्वप्न या सुषुप्तिकी होती है। यह बात 'मुग्धे अर्द्धसम्पत्तिः' इस सूत्रसे कही गयी है। ४

५ उभयलिङ्गाधिकरण (सू० ११–२१)

सुषुप्तिमें जीव ब्रह्मभावको प्राप्त करता है। वह ब्रह्म सर्वथा निराकार निर्लेप, सत्, चित्, आनन्दरूपसे सर्वदा सर्वत्र एकभावसे प्रकाशमान है। उसके आलोकसे समस्त जगत् आलोकित है। उसको आलोकित करनेवाली कोई दूसरी शक्ति नहीं है। वह न स्थूल है न सूक्ष्म, न छोटा न बड़ा, फिर भी वह सर्वत्र प्रकाशित है। जैसे आदित्य एकरूप होते हुए भी भिन्न भिन्न स्थितिके जलमें छोटा बड़ा, टेढ़ा सीधा, गोल लम्बा आदि विविध प्रकारका दिखाई देता है वैसे ब्रह्म भी अनादि वासनासे बद्ध और पूर्वकर्मोंसे अनुसृत प्राणात्मक मनोमय प्रस्थानके भेदसे अनेक प्रकारका ज्ञात होता है।

जैसे जलको ढांक देनेपर उसमें प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता पर खुल जाने पर पुनः वही बिम्ब दिखाई देने लग जाता है उसी तरह सुषुप्तिमें मन प्राणोंसे आच्छन्न हो जाने—ढँक जानेके कारण उसमें कल्पित समस्त प्रपंचोंका अस्त होकर जीवको शुद्ध ब्रह्मभाव प्राप्त हो जाता है। फिर जब मन प्रबुद्ध हो जाता है अर्थात् उसपरसे प्राणोंका आवरण दूर हो जाता है तो पुनः उसमें प्रपंच आभासित होने लग जाते हैं और ब्रह्मके परिछिन्न आभासको लेकर वह जीवभावसे कर्मभोग करने लगता है।

सुषुप्तिमें ब्रह्मभाव प्राप्त होनेपर भी कर्मभोग शेष रह जाता है और मनका नाश भी नहीं हुआ होता अतः शेष कर्मोंके भोगके लिये फिर प्रबोध होता है और मनके द्वारा जीव पुनः अवशिष्ट फलका भोग करने लगता है।

यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान्
अपोभिन्नो बहुधैकोऽनुगच्छन्।

उपाधिना क्रियते भेदरूपो
देवः क्षेत्रेष्वेवमजोयमात्मा ॥
एक एवादिभूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलसूर्यवत् ॥
—ब्र० वि० १२

इस प्रकार वह निराकार निर्लेप ब्रह्म व्यवहार अवस्थामें जीव होकर सगुण सलेप प्रतीत होता है। यही उसकी उभयलिङ्गता है। यही उसकी विचित्र घटना और अलौकिक शक्तिमत्ता है। ५

६ प्रकृतैतावत्त्वाधिकरण (सू० २२–३०)

ब्रह्मको देखते हुए भी हम उसको इन आंखोंसे नहीं देख सकते। इन कानोंसे नहीं सुन सकते और न इस वाणीसे व्यक्त कर सकते हैं। उसकी इयत्ता नहीं है। उसका वास्तवरूप ज्ञानकी कृपासे योगियोंको योगदृष्टि प्राप्त होनेपर दिखाई देता है। कोई भी योगज दृष्टि प्राप्त करके उसका साक्षात्कार कर सकता है। ६

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तुतं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः। —मु० ३।१।८

योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्। ६

७ पराधिकरण (सू० ३१–३७)

पूर्वोक्त ब्रह्मतत्वसे परे कोई तत्व नहीं है—

सा काष्ठा सा परा गतिः, यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित्।
—श्वे० ३।९

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।

—गीता० २।२४

वही परमतत्व है। वह नित्य है। सर्वत्र विद्यमान है, अचल है और सनातन है। वह अन्य वस्तुओंकी तरह नश्वर नहीं है इस लिये श्रुतियोंने उसे 'अज' कहा है। ७

८ फलाधिकरण (सू० ३८–४१)

व्यावहारिक अवस्थामें जीवको कर्मानुसार इष्ट (सुखजनक), अनिष्ट (दुःखजनक) और व्यामिश्र (मोहजनक) ऐसी तीन प्रकारकी अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। सर्वत्र बाहर और भीतर साक्षीरूपसे बैठा हुआ पुरुष या ईश्वर देशकालरूप निमित्त उपस्थित होनेपर जीवका सम्बन्ध इन फलोंके साथ करा देता है। इसीलिये श्रुतियोंने उसे अन्नदाता और वसुदाता भी कहा है। ८ यथा—

स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानः।

—बृ० ४।४।२४

इति द्वितीय पाद समाप्त।

तृतीय पाद

१ सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरण (सू० १—४)

यद्यपि पुरुष, स्थान, शाखा और व्याख्यानके भेदसे प्रतिदेहमें वेदांत भिन्न भिन्न है तथापि सकल-वेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्म सर्वत्र एक है। प्रत्येक आचार्य अपने वेदान्तके अनुसार क्रिया करते और तदनुरूप फल प्राप्त करते हैं। १

२ उपसंहाराधिकरण (सू० ५)

किसी वेदान्तका उपक्रम चाहे दूसरे ढङ्गसे हो पर सबका उपसंहार अपने अपने कर्मोंमें होता है। २

३ अन्यथात्वाधिकरण (सू० ६—८)

वाजसनेयी ब्राह्मणमें कर्मज्ञानाधिकृत पुरुषको प्रजापति, इन्द्रियोंकी (सत्-असत्) वृत्तियोंको उसकी देव-असुर प्रजा और प्राणको उद्गीथ (अध्यक्ष) और परोवरीयस् (पूर्वकर्मानुसार भोग्य प्राप्त करा देनेवाला) कहकर उपासनाका विधान किया गया है। छान्दोग्यमें सब जीवोंमें वास करनेवाले उसे ॐकार रूप उद्गीथ और वरीयस् कहा गया है। अभिप्राय दोनोंका एक ही है। ३

४ व्याप्त्यधिकरण (सू० ९)

ॐ यह अपने समस्त वेदोंमें समानरूपसे व्याप्त है अतः यह अक्षर (नाश-रहित) है। उद्गीथ बुद्धिसे इसकी उपासना करनी चाहिये। ४

५ सर्वाभेदाधिकरण (सू० १०)

प्राण (शरीरमें) सब इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ है और वही वसिष्ठ है। इसमें सब वेदान्तोंका एक मत है। ५

६ आनन्दाद्यधिकरण (सू० ११—१३)

ब्रह्म जगत्का मुख्य कारण है। वह सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है। वह विज्ञानघन है और सर्वत्र सर्वदा विद्यमान है। सर्वात्मक, सर्वानुभू और सर्वान्तर्यामी है। यही सब श्रुतियोंका रहस्य है। ६

७ आध्यानाधिकरण (सू० १४—१५)

आत्मा चराचर भूतोंमें और समस्त लोकोंमें गूढ़रूपसे विद्यमान

है। वह सबका प्रत्यक्ष करता है पर उसका प्रत्यक्ष चर्मचक्षुसे नहीं हो सकता। सूक्ष्मदर्शी योगियोंको समाधिमें सूक्ष्मबुद्धिसे ही उसका प्रत्यक्ष होता है। ७

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥
—कठ० १।३।१२

८ आत्मगृहीत्यधिकरण (सू० १६—१७)

सृष्टिके पूर्वमें ब्रह्म सर्व भेद प्रपञ्चसे निरस्त रहता है। उसे देखने सुनने समझनेवाला कोई नहीं रहता। समस्त बाह्य और आभ्यन्तर सृष्टि उसीमें लीन रहती है। उस अवस्थामें वह एक अद्वितीय आत्माराम होकर आप अपनेमें रमता है। उस समय उसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु प्रकट नहीं रहती। वह अपनी लीलासे, पूर्व सृष्टिके प्राणियोंके कर्मका ईक्षण करके पुनः सृष्टि करता है। माताके गर्भमें नाभितन्तुयुक्त जरायुपट द्वारा घट घटमें व्याप्त होकर सर्वत्र रमता है। इसी अर्थमें उसे 'गृहीती' भी कहा गया है। ८

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमांल्लोकानसृजत्। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। —ऐतरेय० १।१+२

९ कार्याख्यानाधिकरण (सू० १८)

मनुष्य जो भोजन करता है वही प्राणोंका भोजन तथा भोजनके आदि अन्तमें जो आचमन करता है वह उनका वस्त्र है। जिसके प्राण अन्न वस्त्रसे सन्तुष्ट रहते हैं उसका शरीर नीरोग और स्वस्थ रहता है। ९

१० समानाधिकरण (सू० १९)

सांसारिक व्यापारका मुख्य कारण मन है। पुरुष भी मनोमय होकर सत्यभावसे हृदयके भीतर प्रकाश करता है और अपने अनुरूप दूसरेकी चेष्टा देखकर तद्वत् व्यापार करता है। १०

११ सम्बन्धाधिकरण (सू० २०—२२)

जो सत्य है वही आदित्य है। आदित्यमण्डलका अधिष्ठाता पुरुष ही दक्षिण नेत्रको प्रकाशित करता है। उसके नामरूप इसके भी नामरूप हैं। जो उसकी महिमा है वही इसकी भी है। इस प्रकार दोनोंका तादात्म्य सम्बन्ध है। इसी तरह सब प्राणियोंके साथ उसका व्यापारिक सम्बन्ध है। ११

तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेक्षन्पुरुषः। —बृह० ५।५।२

तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्यगेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम। —छां० १।७।५

१२ सम्भृत्यधिकरण (सू० २३)

जहाँ जो वीर्य वा पराक्रम है वह आदित्य पुरुषकी कलाओंसे संभृत वा पुष्ट है। आदित्यसे ही समस्त लोकोंका विस्तार हुआ है। व्यापार करानेके लिये वही समस्त भूतोंमें प्रतिष्ठित है अतः किसीको किसीसे द्वेष करना उचित नहीं है। १२

ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान।
ब्रह्मभूतानां प्रथमं तु जज्ञे तेन र्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः॥

—राणायनीयसंहिता।

१३ पुरुषाद्यधिकरण (सू० २४)

पुरुष यज्ञस्वरूप है। उसका आत्मा—यजमान, श्रद्धा—पत्नी, शरीर इन्धन, वक्षस्थल—वेदी, लोम—कुश, वेदज्ञान—शिखा (अग्निज्वाला), हृदय—यूप (बलिका पशु बाँधनेका खम्भा), कामनाएँ—आज्य (घी), मन्यु (क्रोध)—पशु, तपस्या—अग्नि, दम (इन्द्रिय—दमनकी शक्ति)—शमयिता (उपद्रवियोंको शान्त करनेवाला) प्रतिहारी, दक्षिणा—प्रिय-वाणी, प्राण—आहुति देनेवाला, तथा दोनों नेत्र उद्गाता (सामगान करने-वाला) और अध्वर्यु (क्रिया करनेवाला) हैं। इस विद्याको पुरुषविद्या कहते हैं। इसका उपासक शतायु होता है। १३

तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्म-मुरोवेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्घोता प्राण उद्गाता चक्षुरध्वर्युः। —नारा० ८०

१४ वेधाद्यधिकरण (सू० २५)

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और मात्सर्य ये छ आन्तर शत्रु हैं। समदृष्टिरूपी तेज तलवारसे इनको काटना चाहिये। इन्हें काटनेसे ही पुरुष अपने अर्थको प्राप्त करता है। १४

१५ हान्यधिकरण (सू० २६)

पूर्वोक्त कामादि शत्रुओंके प्रपञ्चमें फँसे रहनेसे सर्वथा हानि होती है। १५

१६ सांपरायाधिकरण (सू० २७—२८)

कामादि शत्रुओंका दमन करनेके बाद ब्रह्मविद्या सिद्ध होती है और सिद्ध पुरुष देवयानसे अग्निलोक या आदित्यलोकमें जाता है। १६

१७ गतेरर्थवत्वाधिकरण (सू० २९—३०)

पूर्वजन्ममें निर्गुणोपासना की हो तो इस शरीरमें इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता अपने अपने यान वा विषयके साथ पुरुषका सम्बन्ध भोगके लिये करा देते हैं। सगुणोपासना की हो तो जीव स्वयम् पितर बनकर भावी सन्तति-परम्पराका सूत्रपात कर देता है पर स्वयम् निर्लेप रहता है। उस सूत्रसे माताके गर्भमें जरायुपट बनता है जिससे गर्भमें बच्चेकी रक्षा होती है। वही पटाच्छन्न पुरुष बाहर आनेपर अनेक चेष्टाओंका आश्रय बनता है अत एव उसे घट कहते हैं। इस प्रकार एक ही ब्रह्म पुरुष-भावसे घट घटमें व्याप्त होकर देवयान और पितृयानके द्वारा संसार का व्यापार चलाता है और जीवभावसे भोगता है। १७

१८ अनियमाधिकरण (सू० ३१)

सगुणोपासनासे जीव पितृयान द्वारा चन्द्रलोकमें जाता है, जो मनका लोक है, और वहाँ कर्मानुरूप सुख भोगकर फिर मृत्युलोकमें लौट आता है अर्थात् सञ्चित कर्मके समाप्त हो जानेपर पूर्ववत् हो जाता है। देवयानके द्वारा जीव आदित्यलोकमें जाता है जो दृश्य नामरूपका जगत् है। निष्काम होनेके कारण वहाँ वह सब नियमोंके बन्धनोंसे छूट जाता है, समदृष्टि होकर ब्रह्मभावको प्राप्त होता है और फिर नीचे नहीं आता। १८

१९ यावदधिकाराधिकरण (सू० ३२)

विषयोंका आधिपत्य करनेके कारण चक्षुरादि इन्द्रियाँ देवता कही जाती हैं। वही इन्द्रियाँ जब ज्ञानकी उत्पादिका होती हैं तो ऋषि कही जाती हैं। ये अधिकारानुसार अपने अपने लोकोंमें रहकर पुरुषको अर्थ प्राप्त करा देती हैं और अधिकार समाप्त हो जानेपर स्वयम् प्राणमें लीन हो जाती हैं। १९

२० अक्षरध्यधिकरण (सू० ३३)

उक्त ऋषियों द्वारा लौकिक व्यापारके लिये अपरा और पारलौकिक व्यापार वा आत्मदर्शनके लिये परा विद्या प्राप्त होती है। वह 'धी' या बुद्धि जिसके द्वारा आत्मदर्शन होता है 'अक्षर-धी' कहलाती है क्योंकि उससे अक्षर ब्रह्मका ज्ञान होता है। २०

२१ इयदधिकरण (सू० ३४)

जीव और ईश्वर अथवा पुरुष दोनों ही शरीरमें हैं। वस्तुतः दोनों एक हैं पर व्यावहारिक दृष्टिसे उनमें महान् अन्तर है। एक अधिपति है दूसरा आधीन; एक भोग्यदाता है और दूसरा भोक्ता; ईश्वर सोलहों कलाओंसे सर्वव्यापक है, जीव इयत्ता पराधीन देहमें ईश्वरके अंशको लेकर प्रकाश करता है। २१

२२ अन्तराधिकरण (सू० ३५—३६)

जीव और ईश्वरके समान आत्मा और परमात्मामें भी पारमार्थिक अभेद होनेपर भी व्यावहारिक भेद हैं। ब्रह्म दृश्य होकर सामान्यरूपसे चराचरमें व्याप्त है; आत्मा अग्निकी भाँति अदृश्य होकर विद्यमान् है जो बुद्धिका घर्षण होनेपर प्रकाशित होता है। २२

२३ व्यतिहाराधिकरण (सू० ३७)

जीवका ईश्वर वा पुरुषके साथ तथा आत्माका ब्रह्मके साथ अभेद है। यही बात अपनी श्रुति बतलाती है। २३

तद्योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्। —ऐतरेय ब्रा०।

२४ सत्याधिकरण (सू० ३८)

विश्व व्यापार चलानेके लिये गुणभेदकी कल्पनासे आत्माने जीव,

पुरुष और ब्रह्म इन तीन संज्ञाओंकी कल्पना अपनेमें की है। प्रलयमें, जब समस्त प्रपञ्चका अस्त हो जाता है, आत्माराम सत्य होकर रमता है। २४

२५ कामाद्यधिकरण (सू० ३९)

कामनाके बन्धनमें बँधे होनेके कारण पुरुषको बार-बार त्रिवृत त्रिगुणात्मक संसारमें आना पड़ता है। कामनाओंसे छूट जानेपर वह अपहत-पाप्मा शुद्धसत्वस्वरूप होकर भूख-प्याससे परे हो जाता है, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प होकर विराजता है, उसको शोक मृत्युकी बाधा नहीं होती। २५

स एष आत्मा अपहतपाप्मा विरजो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः। —छां० ८।१।५

२६ आदराधिकरण (सू० ४०—४१)

प्राणके द्वारा सृष्टिका सञ्चालन होता है अतएव उसके आदरार्थ 'प्राणाय स्वाहा' आदि मन्त्रोंसे मुखमें अग्निहोत्र होता है। यह अग्निहोत्र प्राणीमात्रमें स्वाभाविक है और इसीके आधारपर सृष्टि स्थित है। २६

२७ तन्निर्धारणाधिकरण (सू० ४२)

पूर्वकी उपासनाके अनुसार कर्मोंका निर्णय करके जीव वर्तमानमें भविष्यकी उपासनाका निर्णय करता है और वर्तमानमें क्रियाके द्वारा प्रारब्धका भोग करता है। २७

२८ प्रदानाधिकरण (सू० ४३)

उपासनाके अनुसार समष्टिमें वायुदेवता और व्यष्टिमें प्राणदेवता पुरुषको भोग्य प्रदान किया करते हैं। क्षेपिष्ठा वायु द्वारा समष्टि और व्यष्टिमें समस्त देवताओं और भूतोंको हविः प्राप्त होता है। इस प्रकार

प्राण शरीर और इन्द्रियोंका और समस्त सृष्टिका वायु द्वारा भरण पोषण होता है। २८

२९ लिङ्गभूयस्त्वाधिकरण (सू० ४४—५२)

मन स्वतन्त्र है। उसकी प्रेरणासे प्राण, इन्द्रिय और शरीर विषयोंमें प्रवृत्त होते हैं। वह जागरित अवस्थामें वाक्रूप अग्निमें प्राणकी और स्वप्नमें प्राणाग्निमें वाक्की आहुति करता है। उक्त दो प्रकारकी आहुतियोंसे मन जाग्रत् और स्वप्नका यज्ञ निरन्तर चलाता हुआ उसका फल पुरुषको अर्पण करता है। २९

प्राणं तदा वाचि जुहोति वाचं तदा प्राणे जुहोति एतेऽनन्तेऽमृताहुतीर्जाग्रच्च स्वपंश्च सन्ततमव्यवच्छिन्नं जुहोति।

—कौषीतकी० २।५

३० ऐकात्म्याधिकरण (सू० ५३—५४)

पुरुष प्रत्येक शरीरमें देहादि उपाधियोंसे परिच्छिन्न होकर विद्यमान हैं। इसी अर्थमें वह अनेक है और घट घटमें प्रकाश करता है। समष्टिमें ब्रह्म व्यापकरूपसे विद्यमान है। ये दोनों नाम आत्माके हैं जो सर्वत्र अदृश्य होकर व्याप्त है। पुरुष जीवको कर्मानुसार फल देता है। ३०

३१ अङ्गावबद्धाधिकरण (सू० ५५—५६)

आत्माका वाचक ॐ है। उसमें अपने अपने वेदके अनुसार उद्गीथकी उपासना होती है। यह उपासना प्रत्येक अङ्गभूत लोकमें अनुवृत्त है अर्थात् उसके साथ लगी हुई है। ३१

३२ भूमज्यायस्त्वाधिकर (सू० ५७)

विश्वके वस्तुमात्रमें आत्मा ओतप्रोत है अतः उसे वैश्वानर कहते हैं।

४

उसकी मूर्धा दिव्यज्योति आदित्यसे विभूषित है। विश्वके रूप उसके नेत्र हैं। तिर्यग्-(तिरछा) गमनशील (आत्मा) वायु उसके प्राण हैं। प्राणियोंके देह उसका उदर है। सारी सम्पत्ति उसकी वस्ति है। पृथ्वी उसके पैर हैं। सारे संसारसे यह भूमा और ज्यायान् यानी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। ३२

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ। —छां० ५।१८।२

३३ शब्दादिभेदाधिकरण (सू० ५८)

आत्मा नामरूपके भेदसे ब्रह्म, पुरुष और जीव भावसे सर्वत्र विद्यमान है। ३३

३४ विकल्पाधिकरण (सू० ५९)

जीव अल्पज्ञ होनेके कारण सर्वत्र विकल्प करता है। पुरुष सत्य-सङ्कल्प है। समयपर वह जीवके सङ्कल्पको भी सत्य कर देता है। ३४

३५ काम्याधिकरण (सू० ६०)

जबतक जीव पुरुषभावमें रहता है तबतक उसके सब काम्य-कर्म सिद्ध होकर समुचित होते हैं। ३५

३६ यथाश्रयभावाधिकरण (सू० ६१—६६)

काम्यकर्मोंके विषयमें पूर्वकर्मोंके अनुसार जैसा आश्रय प्राप्त होता है उसीके अनुसार जीवके भाव बनते हैं और भाव दृढ होनेसे तदनुरूप ही सिद्धि होती है। ३६

इति तृतीय पाद समाप्त।



चतुर्थ पाद

१ पुरुषार्थाधिकरण (सू० १—१७)

पूर्वजन्ममें जीव जैसा कर्म करता है तदनुरूप उसका इस जन्ममें भोग्य कर्म बनता है और उसके फलके भोगके अनुकूल शरीर बनता है। उस शरीरमें ईश्वर जीवको प्रारब्धानुसार अर्थकी प्राप्ति करा देता है। इस अर्थके द्वारा भविष्यके कर्मका साधन होता है। पूर्व संस्कारानुसार वर्त्तमानमें अर्थके द्वारा कामनाएँ पूर्ण होती हैं। इस प्रकार भोगसे प्रारब्ध कर्मका नाश होने और ज्ञानाग्निमें संचितके जल जानेपर मोक्ष प्राप्त होता है। १

२ परामर्शाधिकरण (सू० १८–२०)

उपक्रम और उपसंहारके अनुसार परामर्शकी–बीचके कर्मकी–व्यवस्था होती है। परामर्श उपक्रम उपसंहारके अनुरूप हो तो कार्यसिद्धि होती है। कर्मानुसार जीवनपथमें विचरणके समय जीवके हितार्थ चार आश्रम बनाये गये हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। इन चार आश्रमोंमें यथाप्राप्त कर्म करके जो प्राणी जीवनपथपर चलता है वह संसार पार कर जाता है और जबतक आदित्य भगवान् हैं तबतक, उनका साम्य प्राप्त करके, विश्राम करता है। २

३ स्तुतिमात्राधिकरण (सू० २१—२२)

कार्यमें प्रवृत्ति होनेके लिये अर्थवादात्मक वाक्योंसे वस्तुके सामर्थ्यके अनुरूप उसकी प्रशंसा की जाती है। यह प्रशंसा भी उपासना कर्मका अङ्ग है। यही श्रुति है। ३

४ पारिप्लवाधिकरण (सू० २३—२४)

वेदमें वर्णित अथवा दृष्टान्तमें कथित घट, पट, ऋषि, पितर आदि

सब शरीरमें विद्यमान हैं और समय आनेपर नौकाकी तरह जीवको गन्तव्य स्थानपर पहुँचा देते हैं। ४

५ अग्नीन्धनाद्यधिकरण (सू० २५)

जैसे पाकसिद्ध हो जानेपर अग्निमें देनेके लिए इन्धनकी आवश्यकता नहीं रह जाती उसी तरह परा विद्या (सर्वत्र समदृष्टि) सिद्ध हो जानेपर आश्रमधर्मके अनुष्ठानकी आवश्यकता नहीं रहती। ५

६ सर्वापेक्षाधिकरण (सू० २६—२७)

पाक या रसोई जिस समय बनती रहती है उस समय जैसे अग्निमें इन्धन देते रहनेकी आवश्यकता है उसी तरह जबतक कामनाएँ शान्त नहीं होतीं तबतक जीवको इन सबकी आवश्यकता बनी रहती है। ६

७ सर्वान्नानुमित्यधिकरण (सू० २८—३१)

परा अपरा आदि समस्त विद्याओंका हेतु प्राण है। वाक् आदि समस्त इन्द्रियोंका वही प्रवर्तक है। संसारमें जो कुछ भोग्य अन्न है वह सब प्राणोंके लिये है। प्राण ही गृहस्थकी भाँति रस द्वारा व्यावहारिक प्रवृत्तिके लिए यम-नियम-सम्पन्न ब्रह्मचारी मनका, समष्टिरूप अरण्यमें ब्रह्मचिन्तन करते हुए विचरण करनेवाले वसिष्ठ गौतमादि इन्द्रियरूप यतियोंका और संसारसे निर्लिप्त संन्यासी पुरुषका पोषण करता है। ७

८ आश्रमकर्माधिकरण (सू० ३२—३५)

परा या अपरा किसी विद्याका साधन करनेके लिए पूर्वोक्त आश्रम-नियमानुसार कर्म करनेसें जीव सिद्ध होता है और प्रारब्धानुसार भोग्य अर्थको प्राप्त करता है। ८

९ विधुराधिकरण (सू० ३६—३९)

जिनका मन शमादि सम्पत्ति-रहित होनेके कारण ब्रह्मचारी नहीं है, जिनका प्राण रसदानमें समर्थ गृहस्थ नहीं है, जिनकी इन्द्रियाँ समता-रहित अत एव विषय-लोलुप हैं और चंचल मनके अधीन होकर पुरुष भी विषयलिप्त है, ऐसे प्राणी आश्रमधर्मसे रहित और विधुर कहे जाते हैं। उनको किसी विद्यामें अधिकार नहीं है । अतएव द्विजके लिए एक दिन भी आश्रमोंका परित्याग करके रहनेका निषेध किया गया है। ९

अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः।

१० तद्भूताधिकरण (सू० ४०)

जो प्राणी जीवनभर उक्त ब्रह्मचर्यका पालन करता है वह ऊर्ध्वरेता हो जाता है और अन्तमें परमपद प्राप्त करता है। १०

११ आधिकाराधिकरण (सू० ४१—४२)

स्व-भावके विचारसे जो प्राणी जिस आश्रममें अवतीर्ण हुआ है उसे उसीमें सतत रहना चाहिये। उसे उसका परित्याग करनेका अधिकार ही नहीं है। ११

१२ बहिरधिकरण (सू० ४३)

नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका धारण करके जो उससे च्युत होता है उसके लिए, इस दोषका, कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है जिसे करके वह शुद्ध हो जाय। वह सदा आश्रमधर्मसे बहिष्कृत ही रह जाता है। १२

१३ स्वाम्यधिकरण (सू० ४४—४६)

जो प्राणी पूर्वोक्त आश्रमोंका यथावत् पालन करता है वह अपनी समस्त इन्द्रियों, मन और शरीरका स्वामी होता है अर्थात् ये सब उसके अधीन होकर पुरुषको उपभोगार्थ अर्थकी प्राप्ति कराते हैं। १३

१४ सहकार्यन्तरविध्यधिकरण (सू० ४७—४९)

जगत्का हृदयभूत ब्राह्मण श्रुति द्वारा पाण्डित्य प्राप्त करके ज्ञान विज्ञान द्वारा संसारकी यात्रा करता है। पाण्डित्य और ज्ञान दोनों परिपक्व हो जानेपर वह मननशील मुनि होकर वाणीका आधिपत्य प्राप्त करता है। फिर वह यथारुचि मौन वा अमौन होकर विचरण करता है। यह सहकारिणी अवस्था प्राप्त होनेपर वह हृदयस्थ सच्चा ब्राह्मण कहलाता है। जैसा कि वज्रसूचिकोपनिषत्में भी सिद्ध किया है।

तर्हि को वा ब्राह्मणो नाम। यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं षडूर्मिषड्भावेत्यादिसर्वदोषरहितं सत्यज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्पमशेषकल्पाधारमशेषभूतान्तर्यामित्वेन वर्तमानमन्तर्बहिश्चाकाशवदनुस्यूतमखण्डानन्दस्वभावमप्रमेयमनुभवैकवेद्यमपरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत्साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया कामरागादिदोषरहितः शमदमादिसम्पन्नो भावमात्सर्यतृष्णाशामोहादिरहितो दम्भाहंकारादिभिरसंस्पृष्टचेता वर्तत एवमुक्तलक्षणो यः (साक्षी पुरुषः) स एव ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासानामभिप्रायः।

जो अद्वितीय, जाति गुण और क्रियासे रहित, षट् ऊर्मि षट् भाव आदि दोषोंसे अलिप्त, सत्–चित्–आनन्दरूप, स्वयं निर्विकल्प पर असंख्य कल्पोंके आधार, अशेष भूतोंके अन्तर्यामी, भीतर बाहर आकाशकी तरह व्याप्त, अखण्डानन्द स्वभाव, अज्ञेय पर केवल अनुभवसे जानने योग्य, अपरोक्ष रूपसे भासमान आत्माका हथेलीपर रखे हुए आँवलेकी तरह साक्षात्कार करके कृतार्थ होता है और कृतार्थताके कारण काम, राग आदि दोषोंसे रहित हो जाता है, शम-दम आदि सम्पत्ति जिसे प्राप्त होती है,

भाव, मात्सर्य तृष्णा, आशा, मोह आदिसे जो रहित है, दम्भ अहंकार आदि जिसे छूते नहीं, जो पूर्व कर्मोंका साक्षी होकर घट घटमें प्रकाश करता है वही साक्षीभूत उक्त गुणोंसे युक्त पुरुष (जिसे पूर्वमें ईश्वर या साक्षी रूपसे बतलाया गया है) ब्राह्मण है। श्रुति स्मृति पुराण और इतिहासोंका यही अभिप्राय है। १४

१५ अनाविष्काराधिकरण (सू० ५०)

जिसके पाण्डित्य और ज्ञान विज्ञानका अहंकार किसी अन्यके विरुद्ध प्रकट नहीं होता अथवा उसका पूर्ण अभाव रहता है वह ब्राह्मण है। १५

१६ ऐहिकाधिकरण (सू० ५१)

पूर्वसंस्कारके अनुसार मनुष्य ऐहिक और आमुष्मिक दो प्रकारकी विद्या सिद्ध करता है। ऐहिकसे यह लोक साधा जाता है और आमुष्मिकसे परलोक या भविष्य सिद्ध होता है। १६

१७ मुक्तिफलाधिकरण (सू० ५२)

कामनाओंसे मुक्त होनेको ही मोक्ष कहते हैं। १७

इति चतुर्थ पाद समाप्त।



इति तृतीय अध्याय समाप्त



अथ चतुर्थाध्याय

प्रथम पाद

१ आवृत्यधिकरण (सू० १–२)

कोई कार्य बार बार करनेसे उसका अभ्यास हो जाता है और अभ्याससे उसका गूढ़ तत्व प्रगट हो जाता है। इसी नियमसे आचार्यमुखसे सुने हुए वेदान्तका पुनः पुनः श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते रहनेसे सर्वदुःख-विनिर्मुक्त चैतन्य-स्वभाव ब्रह्मका सर्वत्र दर्शन होता है। १

२ आत्मत्वोपासनाधिकरण (सू० ३)

व्यवहार-दशामें जीवात्मा परमात्मासे भिन्न है पर पारमार्थिक अवस्थामें 'जीव' और 'परम' इन दोनों उपाधियोंका निरसन या परित्याग होकर शुद्ध 'आत्मा' रह जाता है। उसी आत्माकी उपासनाका विधान अपनी उपनिषदोंमें किया गया है। २

३ प्रतीकाधिकरण (सू० ४)

आत्मा अग्निकी तरह गूढ़रूपसे सर्वत्र विद्यमान है पर जैसे मान-चित्र (नकशा) भारतवर्ष नहीं है पर उससे भारतका परिचय प्राप्त हो जाता है, उसी तरह समष्टिमें आदित्य वायु आदिको और व्यष्टिमें मन प्राण आदिको प्रतीक या लक्ष्य बनाकर उपासना करनेसे आत्माका परिचय हो जाता है। ३

४ ब्रह्मदृष्ट्यधिकरण (सू० ५)

जैसे सामान्य धनीको भी राजा समझकर उसकी सेवा करनेवाला अभिमत फल प्राप्त कर लेता है और राजाको सामान्य समझकर सेवा

करनेवाला विफल-मनोरथ रह जाता है, उसी तरह आदित्य आदि प्रतीकमें ब्रह्मभावसे (उनको ब्रह्म समझकर) उपासना करनी चाहिये, उससे अभीष्ट सिद्ध हो जायगा पर ब्रह्मको आदित्यादि समझकर उपासना करनेसे समुचित फल नहीं मिलता। ४

५ आदित्यादिमत्यधिकरण (सू० ६)

जैसे आदित्यकी ब्रह्मभावसे उपासना करना समुचित है उसी तरह उद्गीथकी आदित्य-भावसे उपासना भी समुचित है। तात्पर्य यह कि छोटेमें बड़े भावसे उपासना करनेसे फल प्राप्त होता है। ५

६ आसीनाधिकरण (सू० ७–१०)

उपासना किसीकी हो, शान्तभावसे बैठकर करनी चाहिये। ६

७ एकाग्रताधिकरण (सू० ११)

उपासनाके लिये चित्तकी एकाग्रता सबसे अधिक आवश्यक है। ७

८ आप्रायणाधिकरण (सू० १२)

जबतक फलसिद्ध नहीं होता तबतक उपासना करते रहना चाहिये। ८

९ तदधिगमाधिकरण, १० इतरासंश्लेषाधिकरण, ११ अनारब्धाधिकरण (सू० १३–१५)

जैसे पानीमें रहकर भी कमल-पत्रपर पानीका श्लेष नहीं रहता उसी प्रकार जिसकी दृष्टि सर्वत्र सम हो गयी है उसको पाप-पुण्यका स्पर्श नहीं होता। ९–१०–११

१२ अग्निहोत्राद्यधिकरण (सू० १६–१७)

आत्मज्ञान हो जानेपर भी अग्निहोत्रादि नित्य-कर्मका परित्याग नहीं होता। १२

१३ विद्याज्ञानसाधनाधिकरण (सू० १८)

श्रुतिके द्वारा ज्ञान प्राप्त करके जो कर्म किया जाता है वह अवश्य सफल होता है। १३

यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति। —छां० १।१।१०

१४ इतरक्षपणाधिकरण (सू० १९)

प्रारब्धकर्मका भोगसे ही नाश होता है। 'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।' १४

इति प्रथम पाद समाप्त।



द्वितीय पाद

१ वागधिकरण, २ मनोधिकरण, ३ अध्यक्षाधिकरण (सू० १–६)

प्रारब्ध कर्मका भोग समाप्त हो जानेपर जीव वर्तमान शरीरका त्याग करता है, वह प्रयाण-काल है। प्रयाणके समय वाक्की समस्त वृत्तियाँ मनमें लीन हो जाती हैं। अपनी वृत्तियों सहित मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज पुरुषमें लीन हो जाता है। १–२–३

अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम्।—छां० ६।८।६

४ आसृत्युपक्रमाधिकरण (सू० ७)

शरीरसे उसके अध्यक्षकी उत्क्रान्ति विद्वान् और अविद्वान् दोनोंकी समानरूपसे होती है। देहके सूक्ष्म तत्व अविद्वान्के पीछे लगे रहते हैं और वह पूर्वके कर्मानुसार पुनः शरीर ग्रहण करनेके लिये संसारमें अवतीर्ण होते हैं। विद्वान् ज्ञानसे प्रकाशित होते हुए आदित्यसे सम्बद्ध मोक्षद्वारभूत नाडियोंमें प्रवेश करके तर जाते हैं। ४

५ संसारव्यपदेशाधिकरण (सू० ८–११)

उत्क्रमणके समय जीव स्थूल देहका त्याग करके सूक्ष्म लिङ्ग शरीरके साथ उत्क्रमण करता है। यही संसारकी गति है। ५

६ प्रतिषेधाधिकरण (सू० १२–१४)

जिनकी सब कामनाएँ पूर्ण हो गयी हैं और जो आत्मचिन्तनमें लीन हैं वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं। उनका उत्क्रमण नहीं होता, वे स्वयम् ब्रह्म हो जाते हैं। ६

अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो (भवति) न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।

—बृह० ४।४।६

७ वागादिलयाधिकरण, ८ अविभागाधिकरण (सू० १५–१६)

कर्मानुसार भोग समाप्त हो जानेके बाद वागादिके लीन हो जानेपर पुरुषकी सोलह कलाएँ उसमें अस्त हो जाती हैं और वह जीव पुरुष-भावको प्राप्त होता है। ७–८

९ तदोकोधिकरण (सू० १७)

निष्क्रमणके समय पुरुष अपनी शक्तियोंको समेटकर हृदयपर

आक्रमण करता है और वहाँसे दिव्य ज्योतिके साथ अपने भावके अनुसार उत्क्रमण करता है। ९

१० रश्म्यधिकरण (सू० १८–१९)

हृदयसे १०१ नाड़ियाँ निकलती है जिनमेंसे एकका सम्बन्ध मूर्धा वा मस्तिष्कसे है। वह नाड़ी उस आत्माका सूर्यरश्मिके साथ सम्बन्ध करा देती है जिसके द्वारा वह आदित्य लोकमें पहुँच जाता है। यही उत्तरायण मार्ग है। १०

११ दक्षिणायनाधिकरण (सू० २०–२१)

साधारण प्राणी उत्क्रमणके समय भावानुसार इतर नाड़ियोंमें प्रवेश करते हैं जो उत्क्रमणके समय अधोमुखी होती हैं। इन नाड़ियोंमें प्रविष्ट प्राणी पृथिवीके अधिष्ठाता वसुके साथ धूमादि मार्गसे मनके चन्द्रलोकमें पहुँचते हैं। वहाँ कर्मानुसार नियत समय तक स्वर्गादि सुखका भोग करके वृष्टिके साथ पृथिवीपर लौट आते हैं। इसे दक्षिणायन मार्ग कहते हैं।

इति द्वितीय पाद समाप्त।

तृतीय पाद

१ अर्चिराद्यधिकरण, २ वाय्वधिकरण, ३ तडिदधिकरण ४ आतिवाहिकाधिकरण, ५ कार्याधिकरण, ६ अप्रतीकालम्बनाधिकरण (सू० १–१६)

आदित्य भगवान्के ब्रह्मयज्ञका आरम्भ मकर संक्रान्तिसे होता है। उस समय भगवान् दक्षिण अयनका त्याग करके उत्तर अयनमें प्रवेश

करते हैं। उस समयसे क्रमशः उष्मा बढ़ने लगती है। दिन ३० घड़ीका हो जानेके पश्चात् तेजकी मात्रा बहुत बढ़ जाती है। वायु स्वभावानुसार तिर्यग्गामी होकर सर्वत्र विद्यमान रहता ही है। तेज घना हो जानेपर वह स्वभावानुसार आहवनीय (अग्निविशेष) रूप पृथिवीसे वसुरूप वाष्पभूत जीवको उठाता है और वायुको धक्का देकर दक्षिणाग्निकुण्ड अन्तरिक्षमें सबको एकत्रित करता है। इसीसे इन दिनों वायुमें तीव्रता आ जाती है। उस दक्षिणाग्निमें रुद्रदेवता कर्मानुसार सबका परिपाक या परीक्षण करते हैं। उसमें जिनके बीजभूत कर्म भस्म हो गए यानी उस परीक्षामें जो उत्तीर्ण हो गए वे सूक्ष्म-रुद्ररूप होकर अर्चि मार्गसे वायुलोकमें, वहाँसे तडित् लोकमें और वहाँसे गार्हपत्यरूप आदित्य लोकमें आतिवाहिक दिव्य पुरुषके द्वारा पहुँचाए जाते हैं। इस प्रकार जब जीव उक्त ब्रह्मयज्ञ समाप्त करके आदित्य लोककी विरजा नदीमें अवभृथ स्नान करता है तब आदित्यस्वरूप हो जाता है। इसी लिये श्राद्धमें वसु रुद्र और आदित्यरूपमें पितरोंकी उपासनाका विधान शास्त्रोंने किया है। तत्पश्चात् भगवान् आदित्य उसे कार्यब्रह्म हिरण्य-गर्भके लोकमें पहुँचा देते हैं और जबतक भूतसंप्लव (प्रलय) नहीं होता तबतक वे प्रजापतिस्वरूप होकर हिरण्यगर्भके साथ विहार करते हैं।

रुद्रकी उक्त परीक्षामें जो अनुत्तीर्ण हो जाते हैं अथवा जिनके कर्मका परिपाक उतने दिनोंमें नहीं हुआ होता वे, कर्कमें आदित्यके दक्षिण दिक्की यात्रा करनेके पश्चात् नभोमण्डलमें अधिक शीत हो जानेपर, वृष्टिके रूपमें, जलके स्वभावानुसार अधोमुख होकर, वैसे ही पुनः पृथिवी-पर आ जाते हैं, जैसे भभकेके ऊपर ठंढी थाली रख देनेसे भापका जल बनकर नालीके रास्ते नीचे आ जाता है। पृथिवीपर वे अन्न बनते हैं और अपने कर्मानुरूप मनुष्यके शरीरमें प्रवेश करके रेतके द्वारा पुनः योनिज शरीर ग्रहण करते हैं। इस प्रकार भगवान् आदित्य उत्तरायणमें

अपनी रश्मियोंके द्वारा जीवभूत हविको खींचते हैं और दक्षिणायनमें उनका परित्याग कर देते हैं। इसीका नाम संसारावर्त है और यही आदित्यका ब्रह्मयज्ञ है। (यही समस्त तृतीय पादके ६ अधिकरणोंका सारांश है।)

इति तृतीय पाद समाप्त।



चतुर्थ पाद

१ सम्पद्याविर्भावाधिकरण (सू० १–३)

निर्गुणोपासक आत्मज्ञानी पुरुष शरीर त्याग करनेपर, कामनाओंके नाश हो जानेके कारण, ब्रह्म-ज्योतिःस्वरूप सम्पत्तिको प्राप्त करता है। १

२ अविभागाधिकरण (सू० ४)

उक्त सम्पत्ति जिस पुरुषको मिली उसका ब्रह्मसायुज्य होता है, वह ब्रह्मसे अलग होकर नहीं रहता। २

३ ब्राह्माधिकरण (सू० ५–७)

जैसे नदी नाले गंगाजीमें मिलते ही नाम रूपका त्याग करके गंगा बन जाते हैं उसी तरह ज्ञानी पुरुष भी नाम रूपका त्याग करके ब्रह्म हो जाता है—सर्वज्ञ, सत्य-संकल्प, सर्वकाम और आप्तकाम होकर विराजता है। ३

४ संकल्पाधिकरण (सू० ८–९)

जैसे स्वप्नावस्थामें इन्द्रियोंके न रहनेपर भी संकल्प मात्रसे सृष्टि

होती है उसी तरह ब्रह्माधिगत पुरुषके संकल्प मात्रसे देवता पितर आदि आकर उसकी स्तुति करते हैं। ४

५ अभावाधिकरण (सू० १०–१४)

ब्रह्म अधिगत होनेपर शरीर, इन्द्रिय मन आदिसे पुनः सम्बन्ध नहीं होता। ५

६ प्रदीपाधिकरण (सू० १५–१६)

जैसे अनेक दर्पणोंमें प्रतिबिम्बित होनेके कारण प्रदीप नाना-भावको प्राप्त करता है उसी प्रकार ब्रह्म भी कर्मभेदसे अनेक प्रतीत होता है। ६

७ जगद्व्यापाराधिकरण (सू० १७–२२)

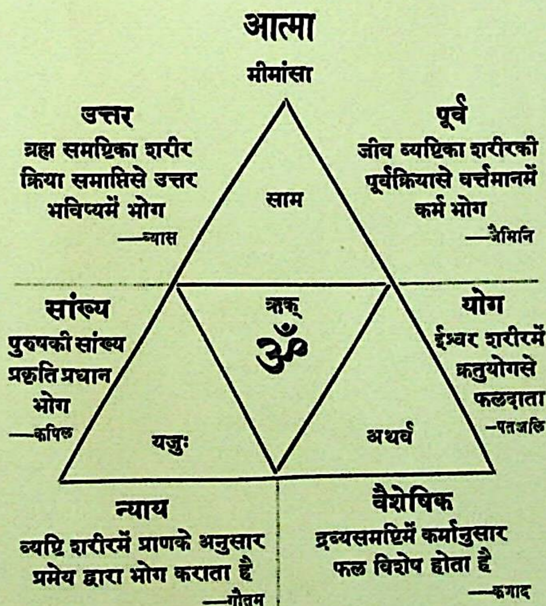
उक्त प्रकारके ज्ञानी पुरुष देवयानके द्वारा ब्रह्मलोकमें ब्रह्मसायुज्य प्राप्त करके संसारावर्त नाम जनम–मरणसे मुक्त होकर परमानन्द प्राप्त करते हैं। सगुणोपासक पुरुष नामरूपके जगत्का बार बार अनुभव करते हैं। ७

॥ ॐ शान्तिः ॥





शास्त्र-चित्रम्



आत्मा
मीमांसा
उत्तर
ब्रह्म समष्टिका शरीर
क्रिया समाप्तिसे उत्तर
भविष्यमें भोग
—व्यास
पूर्व
जीव व्यष्टिका शरीरकी
पूर्वक्रियासे वर्त्तमानमें
कर्म भोग
—जैमिनि
साम
ऋक्
ॐ
यजुः
अथर्व
सांख्य
पुरुषकी सांख्य
प्रकृति प्रधान
भोग
—कपिल
योग
ईश्वर शरीरमें
क्रतुयोगसे
फलदाता
—पतञ्जलि
न्याय
व्यष्टि शरीरमें प्राणके अनुसार
प्रमेय द्वारा भोग कराता है
—गौतम
वैशेषिक
द्रव्यसमष्टिमें कर्मानुसार
फल विशेष होता है
—कणाद



मङ्गलम्

जीवस्तुतिः

आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च। सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

हम जीवके अङ्ग, वाणी, प्राण, नेत्र, कर्ण, बल और सारी इन्द्रियाँ सन्तुष्ट और समृद्ध हों तथा हमारे ब्रह्मविषयक उपनिषत् वा आध्यात्मिक ज्ञानकी अभिवृद्धि हो जिससे हम (घट घटमें प्रकाशित) ब्रह्मका निराकरण वा तिरस्कार न करें और ब्रह्म हमारा निराकरण न करे। अनिराकरण वा परस्पर सद्भावका सदा सर्वत्र प्रसार हो। उपनिषदोंमें आत्माके जो धर्म हैं वे हममें स्थिर रहें, वे हमसे दूर न रहें।

ॐ शान्तिः।



परिशिष्ट 'क'

ब्रह्मविद्या दो प्रकारकी है, परा और अपरा। परा वह है जिसके द्वारा समष्टिमें अध्यात्मका विकास हो और जिसका कहीं अन्त न हो। जिसके द्वारा हम व्यष्टिगत व्यापार करते हैं उसे अपरा विद्या कहते हैं।

आत्मा सबमें है। सृष्टिके समय वही व्यापकरूपसे जड़ और चेतनमें देश काल और रूप बना दिखाई देता है। वह प्रति देहमें परिच्छिन्न होनेके कारण पुरुष बनकर सबका नियमन करता है। जब कर्मोंके द्वारा प्राण धारण करता और मनके द्वारा उसके फल यानी सुख-दुःखका भोग करता है तो उसे जीव कहते हैं। अणुनिर्मित सृष्टिमें वह मनके द्वारा व्यापार करता है और प्रारब्धानुसार सुख-दुःख भोगता है। जब उक्त व्यापारसे मन हट जाता है तब जीवका मोक्ष होता है।

सृष्टिके समय गुण और क्रियाके भेदसे आत्माके चार भेद होते हैं और तदनुसार उनके नामकी कल्पना की जाती है। प्रलयके समय वह परमात्मा स्थिर रहता है। वह पहले भी था, अब भी है और बादको भी रहेगा।

प्रति शरीरकी आकृति पूर्वकर्मके अनुसार भिन्न भिन्न प्रकारकी दीखती है। उसीको प्रधान और प्रकृति भी कहते हैं। जब कर्मोंके फलका भोग शरीरके द्वारा होता है तब उसे (शरीरको) चेतन कहते हैं, अन्यथा वह अचेतन—जड़ है। यही चेतन और अचेतनका भेद है।

चेतनमें अर्थप्राप्तिकी कामना या इच्छा होती है। धर्मपूर्वक अर्थप्राप्ति होनेसे कामनाकी जो पूर्ति होती है वही मोक्ष है। अत्यन्त मोक्ष उसे कहते हैं जिस अवस्थामें कामनाओंका फिरसे उदय ही न हो। मोक्षके यही दो भेद हैं।

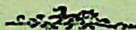
शुद्ध ज्ञानका नाम ऋग्वेद है। जिस ज्ञानके द्वारा शरीरसे ऐहिक और पारलौकिक कर्म सिद्ध किये जाते हैं उसे यजुर्वेद कहते हैं। मनमें विचार करके समानताका जो गान किया जाता है उसे सामवेद कहते हैं। जिस ज्ञानके द्वारा फलप्राप्तिके लिये रूप और नामकी क्रियाका सम्पादन किया जाता है उसे अथर्ववेद कहते हैं। ज्ञानभेदसे वेदके ये चार भेद हैं।

श्रुति और ज्ञानके द्वारा जो अर्थ प्राप्त करता है वह ब्राह्मण है। दृष्टिसे रूपज्ञान प्राप्त करके जो शरीरकी रक्षा करता है वह क्षत्रिय है। मुखसे रसज्ञान प्राप्त करके जो शरीरकी व्यवस्था करता है वह वैश्य है। इस प्रकार शरीरके द्वारा कार्य करानेवालोंको द्वि-जाति कहते हैं। जो द्विजातिका प्रेष्य वा चाकर होकर काम करता है वह (शरीर) शूद्र है। यह एक-जाति है। इस प्रकार एक ही शरीरमें अवस्था और क्रिया भेदसे चारों वर्ण व्यवस्थित हैं। गर्भावस्थापन्न पिण्डको निषाद कहते हैं। बाहर आनेपर वही पिण्ड शूद्र कहलाता है।

शरीरस्थ ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर भीतर सर्वत्र अपने अपने विषयोंका आधिपत्य करती हैं इसीसे उन्हें देवता कहते हैं। कर्मेन्द्रियों द्वारा भावी सृष्टिका निर्माण होता है इस लिये उन्हें पितर कहते हैं। शरीरके द्वारा भौतिक सृष्टिका निर्माण होता है इस लिये उसे गन्धर्व कहते हैं।

देव, पितर और गन्धर्व इनमें क्रमशः वायु, तेज और जलकी अधिकता होती है।

शरीरके द्वारा आकाश और पृथिवीके तत्त्वोंकी सहायतासे आसुरी और राक्षसी कर्म भी सिद्ध किये जाते हैं अतः उसे (शरीरको) असुर और राक्षस भी कहते हैं।



परिशिष्ट 'ख'

आत्मा एक, अदृश्य और सर्वप्रपंचसे परे है। सृष्टिके आरम्भमें 'एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायेय' यह स्फुरणा उसमें होती है और इसके साथ ही समस्त दिशाएं, अग्निके प्रज्वलित होनेपर उसके स्फुलिङ्गोंकी तरह, जीवाणुओंसे परिपूर्ण हो जाती हैं। समष्टिमें ब्रह्म और व्यष्टिमें पुरुष जीवको भोगकी प्राप्ति करा देते हैं। जैसे बीजका अंश वृक्षके अङ्ग प्रत्यङ्गमें व्याप्त रहकर शाखा, पत्र, पुष्प, फल आदि नाम रूपोंसे व्यवहृत होता है उसी तरह आत्मा एक है पर व्यवहारमें परब्रह्म, पुरुष और जीव इन तीन नामोंसे पुकारा जाता है।

कर्मानुसार द्व्यणु आदि क्रमसे स्थूल सृष्टिका प्रारम्भ होनेपर पहले आकाशका निर्माण होता है जो अवकाश स्वरूप है। आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल और जलसे पृथिवीकी उत्पत्ति होती है। इन पञ्चतत्वोंका जीवसे संयोग होनेपर शरीरका निर्माण होता है।

शरीरमें चेतनाशक्ति या चित् एक है। वही व्यवहारमें मन, बुद्धि और अहंकारके रूपमें परिणत होता है।

मनमें ज्ञानस्वरूप ऋग्वेदका आविर्भाव होता है और बादको वही यजुः, साम और अथर्वके नामसे व्यवहृत होता है।

सृष्टिका यह क्रम चींटीसे हिरण्यगर्भपर्यन्त सबमें एकसा है। छोटेके लिये सभी बड़े हिरण्यगर्भ हैं। अतः शरीरको विराट् और जीवको हिरण्यगर्भ कहते हैं। समस्त शास्त्रोंके प्रतिपाद्य ये ही हैं। व्यासने वेदान्तमें शरीर और ब्रह्मका विवेचन किया है। जैमिनिने शरीरकी व्याख्या कर्मके रूपमें की है। उनका सिद्धान्त है कि जीव प्रारब्धानुसार कर्मभूत शरीरको प्राप्त करके भोगता है। संख्याके द्वारा जीव

बाह्यसृष्टि अर्थात् समष्टिमें अपना भोग प्राप्त करता है। उसका नियमन करनेके लिये सांख्यने साक्षीभूत पुरुषकी कल्पना की है। बाह्य पदार्थोंका जीवके साथ योग करनेके लिये योगशास्त्रने ईश्वरकी कल्पना की।

प्राणीका यह स्वभाव है कि वह विशेषता प्राप्तिका यत्न करता है। गुण और कर्म वा क्रियाके द्वारा यह विशेषता द्रव्यमें प्राप्त होती है। अतः वैशेषिकने पञ्चतत्व, दिक् और काल इन सात पदार्थोंके साथ अष्टम आत्माको रखकर सबके ऊपर मनकी स्थापना की। इसका तात्पर्य यह है कि जब मनसहित सातों पदार्थ आत्मासे सम्बद्ध होते हैं तब विशेषता प्राप्त होती है। द्रव्यमें गुण और कर्मकी स्थिरता होती है तो सामान्यभावमें व्यवहारके लिए जातिकी कल्पना होती है। यही बात निरालम्बोपनिषद् भी कहता है—"न चर्मणो न रक्तस्य न मांसस्य न चास्थिनः। न जातिरात्मनो जातिर्व्यवहारप्रकल्पिता।" अर्थात् न चर्म जाति है, न रक्त, न मांस और न अस्थि (हड्डी) ही जाति है। निर्धर्म आत्मामें जाति रह नहीं सकती। अतः सामान्यभावसे व्यवहार करनेके लिए जातिकी कल्पना की गई है। जातिकी व्यवस्था हो जानेपर एकसे दूसरेमें कुछ विशेषता होती है। विशेषताके लिये एकका दूसरेके साथ समवाय (सम्बन्ध) होना आवश्यक है।

समवायमें यह स्वाभाविक है कि छोटेका बड़ेमें अन्तर्भाव होकर अभाव हो जाता है। सबका मन अपने साथ होता है। अतः उसके द्वारा किसी वस्तुके साथ समवाय करनेके लिये छोटे बड़ेका ज्ञान होना आवश्यक है। इसके लिये आठ भीतरकी (अन्तःकरण) और आठ बाहरकी वस्तुओंको लेकर न्यायने सोलह पदार्थोंकी सृष्टि की है। उसका अभिप्राय यह है कि जीव पूर्वमें जैसा 'प्रमाण' हुआ है वैसा ही वर्तमानमें 'प्रमेय' होगा और वर्तमानमें जो प्रमाण करेगा वही भविष्यमें प्रमेय होकर भोगेगा। इति शम्।

ॐ

श्रीमन्महर्षिवेदव्यासप्रणीतं

शारीरकमीमांसादर्शनम्

अथ प्रथमोध्यायः

प्रथमे प्रथमः पादः

१ जिज्ञासाधिकरणम्

अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

२ जन्माद्यधिकरणम्

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

३ शास्त्रयोनित्वाधिकरणम्

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

४ समन्वयाधिकरणम्

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

५ ईक्षत्यधिकरणम्

ईक्षतेर्नाऽशब्दम् ॥ ५ ॥

गौणश्चेन्नाऽऽत्मशब्दात् ॥ ६ ॥

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥

हेयत्वाऽवचनाच्च ॥ ८ ॥

स्वाप्ययात् ॥ ९ ॥

गतिसामान्यात् ॥१०॥

श्रुतत्वाच्च ॥११॥

६ आनन्दमयाधिकरणम्

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥१२॥

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥१३॥

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥१४॥

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥१५॥

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१६॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥१७॥

कामाच्च नाऽनुमानापेक्षा ॥१८॥

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥१९॥

७ अन्तरधिकरणम्

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥२०॥

भेदव्यपदेशाच्चाऽन्यः ॥२१॥

८ आकाशाधिकरणम्

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥२२॥

९ प्राणाधिकरणम्

अत एव प्राणः ॥२३॥

१० ज्योतिश्चरणाधिकरणम्

ज्योतिश्चरणाऽभिधानात् ॥२४॥

छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदा-
त्तथा हि दर्शनम् ॥२५॥

भूताऽऽदिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥२६॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ।२७

११ प्रतर्दनाधिकरणम्

प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥२८॥

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्ध-
भूमा ह्यस्मिन् ॥२९॥

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥३०॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादा-
श्रितत्वादिह तद्योगात् ॥३१॥

इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

अथ प्रथमे द्वितीयः पादः ।

१ सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम्

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥
शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥
स्मृतेश्च ॥ ६ ॥
अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न
निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥ ७ ॥
सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

२ अत्त्रधिकरणम्

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ९ ॥
प्रकरणाच्च ॥१०॥

३ गुहाप्रविष्टाधिकरणम्

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥११॥
विशेषणाच्च ॥१२॥

४ अन्तराधिकरणम्

अन्तर उपपत्तेः ॥१३॥
स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥१४॥
सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥१५॥
श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥१६॥
अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥१७॥

५ अन्तर्याम्यधिकरणम्

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥१८॥
न च स्मार्त्तमतद्धर्माऽभिलापात् ॥१९॥

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥२०॥

६ अदृश्यत्वाधिकरणम्

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥२१॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥२२॥

रूपोपन्यासाच्च ॥२३॥

७ वैश्वानराधिकरणम्

वैश्वानरस्साधारणशब्दविशेषात् ॥२४॥

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥२५॥

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते २६

अत एव न देवता भूतञ्च ॥२७॥

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥२८॥

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥२९॥

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥३०॥

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥३१॥

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥३२॥

इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥



अथ प्रथमे तृतीयः पादः ।

१ द्युभ्वाद्यधिकरणम्

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥
मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥
नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥
प्राणभृच्च ॥ ४ ॥
भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥
प्रकरणात् ॥ ६ ॥
स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ७ ॥

२ भूमाधिकरणम्

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८ ॥
धर्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥

३ अक्षराधिकरणम्

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥१०॥
सा च प्रशासनात् ॥११॥
अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥१२॥

४ ईक्षतिकर्माधिकरणम्

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॥१३॥

५ दहराधिकरणम्

दहर उत्तरेभ्यः ॥१४॥

गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च ॥१५॥
धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥१६॥
प्रसिद्धेश्च ॥१७॥
इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् ॥१८॥
उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥१९॥
अन्यार्थश्च परामर्शः ॥२०॥
अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥२१॥

६ अनुकृत्यधिकरणम्

अनुकृतेस्तस्य च ॥२२॥
अपि च स्मर्यते ॥२३॥

७ प्रमिताधिकरणम्

शब्दादेव प्रमितः ॥२४॥
हृद्यपेक्षया तु मनुष्याऽधिकारत्वात् ॥२५॥

८ देवताधिकरणम्

तदुपर्यपि बादरायणस्सम्भवात् ॥२६॥
विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्श-
नात् ॥२७॥
शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षाऽनु-
मानाभ्याम् ॥२८॥
अत एव च नित्यत्वम् ॥२९॥
समाननामरूपत्वाच्चाऽऽवृत्तावप्यविरोधो

दर्शनात्स्मृतेश्च ॥३०॥

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ॥३१॥

ज्योतिषि भावाच्च ॥३२॥

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥३३॥

९ अपशूद्राधिकरणम्

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ॥३४॥

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥३५॥

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥३६॥

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥३७॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॥३८॥

१० कम्पनाधिकरणम्

कम्पनात् ॥३९॥

११ ज्योतिरधिकरणम्

ज्योतिर्दर्शनात् ॥४०॥

१२ अर्थान्तरत्वादिव्यदेशाधिकरणम्

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥४१॥

१३ सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणम्

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥४२॥

पत्यादिशब्देभ्यः ॥४३॥

इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

अथ प्रथमे चतुर्थः पादः ।

१ आनुमानिकाधिकरणम्

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपक-
विन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥१॥
सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥२॥
तदधीनत्वादर्थवत् ॥३॥
ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥४॥
वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥५॥
त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥६॥
महद्वच्च ॥७॥

२ चमसाधिकरणम्

चमसवदविशेषात् ॥८॥
ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥९॥
कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥१०॥

३ संख्योपसंग्रहाधिकरणम्

न सङ्ख्योपसंग्रहादपि नानाभावादति-
रेकाच्च ॥११॥
प्राणदयो वाक्यशेषात् ॥१२॥
ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥१३॥

४ कारणत्वाधिकरणम्

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तेः ॥१४

समाकर्षात् ॥१५॥

५ बालाक्यधिकरणम्

जगद्वाचित्वात् ॥१६॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥१७॥

अन्यार्थन्तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥१८॥

६ वाक्यान्वयाधिकरणम्

वाक्यान्वयात् ॥१९॥

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥२०॥

उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः ॥२१॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥२२॥

७ प्रकृत्यधिकरणम्

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥२३॥

अभिध्योपदेशाच्च ॥२४॥

साक्षाच्चोभयाऽऽम्नायात् ॥२५॥

आत्मकृतेः परिणामात् ॥२६॥

योनिश्च हि गीयते ॥२७॥

८ सर्वव्याख्यानाधिकरणम्

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥२८॥

इति प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

इति समन्वयाख्यः प्रथमोऽध्यायः ।

अथ द्वितीयोध्यायः।

द्वितीये प्रथमः पादः।

१ स्मृत्यधिकरणम्

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नाऽन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥

इतरेषाञ्चाऽनुपलब्धेः ॥ २ ॥

२ योगप्रत्युक्त्यधिकरणम्

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥

३ विलक्षणत्वाधिकरणम्

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥ ४ ॥

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥५॥

दृश्यते तु ॥ ६ ॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

न तु दृष्टान्तभावात् ॥ ९ ॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥१०॥

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥११॥

४ शिष्टापरिग्रहाधिकरणम्

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥१२॥

५ भोक्त्रापत्त्यधिकरणम्

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥१३॥

६ आरम्भणाधिकरणम्

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥१४॥

भावे चोपलब्धेः ॥१५॥

सत्त्वाच्चावरस्य ॥१६॥

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्म्मान्तरेण वाक्य-
शेषात् ॥१७॥

युक्तेश्शब्दान्तराच्च ॥१८॥

पटवच्च ॥१९॥

यथा च प्राणादि ॥२०॥

७ इतरव्यपदेशाधिकरणम्

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥२१॥

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥२२॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥२३॥

८ उपसंहारदर्शनाधिकरणम्

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥२४॥

देवादिवदपि लोके ॥२५॥

९ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम्

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥२६॥

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥२७॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥२८॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥२९॥

१० सर्वोपेताधिकरणम्

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥३०॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥३१॥

११ प्रयोजनवत्वाधिकरणम्

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥३२॥

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥३३॥

१२ वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणम्

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ३४

न कर्माऽविभागादिति चेन्नाऽनादित्वात् ॥३५॥

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥३६॥

१३ सर्वधर्म्मोपपत्त्यधिकरणम्

सर्वधर्म्मोपपत्तेश्च ॥३७॥

इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥



अथ द्वितीये द्वितीयः पादः ।

१ रचनानुपपत्त्यधिकरणम्

रचनानुपपत्तेश्च नाऽनुमानम् ॥ १ ॥

प्रवृत्तेश्च ॥ २ ॥

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चाऽनपेक्षत्वात् ॥४॥

अन्यत्राऽभावाच्च न तृणादिवत् ॥५॥

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥६॥

पुरुषाऽश्मवदिति चेत्तथाऽपि ॥७॥

अङ्गित्वाऽनुपपत्तेश्च ॥८॥

अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥९॥

विप्रतिषेधाच्चाऽसमञ्जसम् ॥१०॥

२ महद्दीर्घाधिकरणम्

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥११॥

३ परमाणुजगदकारणत्वाधिकरणम्

उभयथाऽपि न कर्माऽतस्तदभावः ॥१२॥

समवायाऽभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥१३॥

नित्यमेव च भावात् ॥१४॥

रूपाऽऽदिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥१५॥

उभयथा च दोषात् ॥१६॥

अपरिग्रहाच्चाऽत्यन्तमनपेक्षा ॥१७॥

४ समुदायाधिकरणम्

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥१८॥

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥१९॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥२०॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥२१॥
प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरवि-
च्छेदात् ॥२२॥
उभयथा च दोषात् ॥२३॥
आकाशे चाऽविशेषात् ॥२४॥
अनुस्मृतेश्च ॥२५॥
नाऽसतोऽदृष्टत्वात् ॥२६॥
उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥२७॥

५ अभावाधिकरणम्

नाऽभाव उपलब्धेः ॥२८॥
वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥२९॥
न भावोऽनुपलब्धेः ॥३०॥
क्षणिकत्वाच्च ॥३१॥
सर्वथाऽनुपपत्तेश्च ॥३२॥

६ एकस्मिन्नसंभवाधिकरणम्

नैकस्मिन्नसम्भवात् ॥३३॥
एवञ्चात्माऽकार्त्स्न्यम् ॥३४॥
न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥३५॥
अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥३६॥

६ पत्यधिकरणम्

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥३७॥

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥३८॥
अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥३९॥
करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥४०॥
अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥४१॥

७ उत्पत्त्यसंभवाधिकरणम्

उत्पत्त्यसम्भवात् ॥४२॥
न च कर्त्तुः करणम् ॥४३॥
विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥४४॥
विप्रतिषेधाच्च ॥४५॥

इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥



अथ द्वितीये तृतीयः पादः ।

१ वियदधिकरणम्

न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥
अस्ति तु ॥ २ ॥
गौण्यसम्भवात् ॥ ३ ॥
शब्दाच्च ॥ ४ ॥
स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥ ५ ॥
प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥ ६ ॥
यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥

२ मातरिश्वाधिकरणम्

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ ८ ॥

३ असंभवाधिकरणम्

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ९ ॥

४ तेजोऽधिकरणम्

तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥ १० ॥

५ अबधिकरणम्

आपः ॥ ११ ॥

६ पृथिव्यधिकाराधिकरणम्

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ ॥

७ तदभिध्यानाधिकरणम्

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥ १३ ॥

८ विपर्ययाधिकरणम्

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥ १४ ॥

९ अन्तराविज्ञानाधिकरणम्

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाऽविशेषात् ॥ १५ ॥

१० चराचरव्यपाश्रयाधिकरणम्

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ १६ ॥

११ आत्माधिकरणम्

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ १७ ॥

१२ ज्ञाधिकरणम्

ज्ञोऽत एव ॥ १८ ॥

१३ उत्क्रान्तिगत्यधिकरणम्

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १९ ॥

स्वाऽऽत्मना चोत्तरयोः ॥ २० ॥

नाऽणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥ २१ ॥

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥ २२ ॥

अविरोधश्चन्दनवत् ॥ २३ ॥

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्-
धृदि हि ॥ २४ ॥

गुणाद्वा लोकवत् ॥ २५ ॥

व्यतिरेको गन्धवत् ॥ २६ ॥

तथा च दर्शयति ॥ २७ ॥

पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥ २९ ॥

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥ ३१ ॥

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो
वाऽन्यथा ॥ ३२ ॥

१४ कर्त्रधिकरणम्

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३३ ॥

विहारोपदेशात् ॥ ३४ ॥
उपादानात् ॥ ३५ ॥
व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः॥ ३६ ॥
उपलब्धिवदनियमः ॥ ३७ ॥
शक्तिविपर्य्ययात् ॥ ३८ ॥
समाध्यभावाच्च ॥ ३९ ॥

१५ तक्षाधिकरणम्

यथा च तक्षोभयथा ॥ ४० ॥

१६ परायत्ताधिकरणम्

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ ४१ ॥
कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥ ४२ ॥

१७ अंशाधिकरणम्

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चाऽपि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥ ४३ ॥
मन्त्रवर्णाच्च ॥ ४४ ॥
अपि च स्मर्यते ॥ ४५ ॥
प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥ ४६ ॥
स्मरन्ति च ॥ ४७ ॥
अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बधाज्ज्योतिरादिवत् ।४८
असन्ततेश्चाऽव्यतिकरः ॥ ४९ ॥

आभास एव च ॥ ५० ॥
अदृष्टानियमात् ॥ ५१ ॥
अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥ ५२ ॥
प्रदेशादिति चेन्नाऽन्तर्भावात् ॥ ५३ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥



अथ द्वितीये चतुर्थः पादः ।

१ प्राणोत्पत्त्यधिकरणम्

तथा प्राणाः ॥ १ ॥
गौण्यसम्भवात् ॥ २ ॥
तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥ ३ ॥
तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ ४ ॥

२ सप्तगत्यधिकरणम्

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥
हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥ ६ ॥

३ प्राणाणुत्वाधिकरणम्

अणवश्च ॥ ७ ॥

४ प्राणश्रैष्ठ्याधिकरणम्

श्रेष्ठश्च ॥ ८ ॥

५ वायुक्रियाधिकरणम्

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥ १० ॥
अकरणत्वाच्च न दोषास्तथा हि दर्शयति ॥ ११ ॥
पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥ १२ ॥

६ श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम्

अणुश्च ॥ १३ ॥

७ ज्योतिराद्यधिकरणम्

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥ १४ ॥
प्राणवता शब्दात् ॥ १५ ॥
तस्य च नित्यत्वात् ॥ १६ ॥

८ इन्द्रियाधिकरणम्

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥ १७ ॥
भेदश्रुतेः ॥ १८ ॥
वैलक्षण्याच्च ॥ १९ ॥

९ संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम्

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥ २० ॥
मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥ २१ ॥
वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ २२ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥
इत्यविरोधाख्यो द्वितीयोऽध्यायः ।



अथ तृतीयोऽध्यायः

तृतीये प्रथमः पादः ।

१ तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम्

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः
प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥
त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥ २ ॥
प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥
अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥
प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ५ ॥
अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥
भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ॥ ७ ॥

२ कृतात्ययाधिकरणम्

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां
यथेतमनेवं च ॥ ८ ॥
चरणादिति चेन्नोपलक्षणाऽर्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥९॥
आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ १० ॥
सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥ ११ ॥

३ अनिष्टादिकार्यधिकरणम्

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥
संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ

तद्गतिदर्शनात् ॥ १३ ॥
स्मरन्ति च ॥ १४ ॥
अपि च सप्त ॥ १५ ॥
तत्राऽपि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ १६ ॥
विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ १७ ॥
न तृतीये तथोपलब्धेः ॥ १८ ॥
स्मर्यतेऽपि च लोके ॥ १९ ॥
दर्शनाच्च ॥ २० ॥
तृतीयशब्दाऽवरोधस्संशोकजस्य ॥ २१ ॥

४ साभाव्यापत्त्यधिकरणम्

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ २२ ॥

५ नातिचिराधिकरणम्

नातिचिरेण विशेषात् ॥ २३ ॥

६ अन्याधिष्ठिताधिकरणम्

अन्याधिष्ठितेषु पूर्व्ववदभिलापात् ॥ २४ ॥
अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥
रेतस्सिग्योगोऽथ ॥ २६ ॥
योनेश्शरीरम् ॥ २७ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥



अथ तृतीये द्वितीयः पादः ।

१ सन्ध्याधिकरणम्

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥
निर्म्मातारं चैके पुत्राऽऽदयश्च ॥ २ ॥
मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३
सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ४ ॥
पराऽभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य
बन्धविपर्ययौ ॥ ५ ॥
देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ६ ॥

२ तदभावाधिकरणम्

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ७ ॥
अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

३ कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम्

स एव तु कर्माऽनुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥

४ मुग्धाधिकरणम्

मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥

५ उभयलिङ्गाधिकरणम्

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥
न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥
अपि चैवमेके ॥ १३ ॥
अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥

प्रकाशवच्चाऽवैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥
आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥
दर्शयति चाऽथो अपि स्मर्य्यते ॥ १७ ॥
अत एव चोपमा सूर्य्यकादिवत् ॥ १८ ॥
अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ १९ ॥
वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्या-
देवम् ॥ २० ॥
दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

६ प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणम्

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च
भूयः ॥ २२ ॥
तदव्यक्तमाह हि ॥ २३ ॥
अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २४ ॥
प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च
कर्मण्यभ्यासात् ॥ २५ ॥
अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ २६ ॥
उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥
प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥
पूर्ववद्वा ॥ २९ ॥
प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥

७ पराधिकरणम्

परमतस्सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३१ ॥

सामान्यात्तु ॥ ३२ ॥

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३३ ॥

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥ ३४ ॥

उपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

तथान्यप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३७ ॥

८ फलाधिकरणम्

फलमत उपपत्तेः ॥ ३८ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥

धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ४० ॥

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥



अथ तृतीये तृतीयः पादः ।

१ सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम्

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥ २ ॥

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारे-
ऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥ ३ ॥

दर्शयति च ॥ ४ ॥

२ उपसंहाराधिकरणम्

उपसंहारोर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥ ५ ॥

३ अन्यथात्वाधिकरणम्

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥ ६ ॥

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ८ ॥

४ व्याप्त्यधिकरणम्

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥

५ सर्वाभेदाधिकरणम्

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥

६ आनन्दाद्यधिकरणम्

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ११ ॥

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥१२॥

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥ १३ ॥

७ आध्यानाधिकरणम्

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥

आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥

८ आत्मगृहीत्यधिकरणम्

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ १६ ॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥ १७ ॥

९ कार्याख्यानाधिकरणम्

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥ १८ ॥

१० समानाधिकरणम्

समान एवं चाभेदात् ॥ १९ ॥

११ संबन्धाधिकरणम्

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥

न वा विशेषात् ॥ २१ ॥

दर्शयति च ॥ २२ ॥

१२ संभृत्यधिकरणम्

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥ २३ ॥

१३ पुरुषाधिकरणम्

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥ २४ ॥

१४ वेधाद्यधिकरणम्

वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २५ ॥

१५ हान्यधिकरणम्

हानौतूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्यु-
पगानवत्तदुक्तम् ॥ २६ ॥

१६ सांपरायाधिकरणम्

साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥ २७ ॥

छन्दत उभयाऽविरोधात् ॥ २८ ॥

१७ गतेरर्थवत्त्वाधिकरणम्

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥ २९ ॥

उपपन्नस्तल्लक्षणाऽर्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥ ३० ॥

१८ अनियमाधिकरणम्

अनियमस्सर्वासामविरोधश्शब्दानुमाना-
भ्याम् ॥ ३१ ॥

१९ यावदधिकाराधिकरणम्

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३२ ॥

२० अक्षरध्यधिकरणम्

अक्षरधियां त्ववरोधस्सामान्यतद्भावाभ्यामौ
पसदवत्तदुक्तम् ॥ ३३ ॥

२१ इयदधिकरणम्

इयदामननात् ॥ ३४ ॥

२२ अन्तराधिकरणम्

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥ ३५ ॥
अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्त-
रवत् ॥ ३६ ॥

२३ व्यतिहाराधिकरणम्

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥

२४ सत्याधिकरणम्

सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥

२५ कामाद्यधिकरणम्

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥

२६ आदराधिकरणम्

आदरादलोपः ॥ ४० ॥
उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥

२७ तन्निर्धारणाधिकरणम्

तन्निर्धारणाऽनियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ॥ ४२ ॥

२८ प्रदानाधिकरणम्

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४३ ॥

२९ लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम्

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ४४ ॥
पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया मानसवत् ॥ ४५ ॥
अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥
विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥
दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥
श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४९ ॥
अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ॥ ५० ॥
न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥ ५१ ॥
परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५२ ॥

३० ऐकात्म्याधिकरणम्

एक आत्मनश्शरीरे भावात् ॥ ५३ ॥

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ ५४ ॥

३१ अङ्गावबद्धाधिकरणम्

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥ ५५ ॥

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥ ५६ ॥

३२ भूमज्यायस्त्वाधिकरणम्

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥ ५७ ॥

३३ शब्दादिभेदाधिकरणम्

नानाशब्दाऽऽदिभेदात् ॥ ५८ ॥

३४ विकल्पाधिकरणम्

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५९ ॥

३५ काम्याधिकरणम्

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा
पूर्वहेत्वभावात् ॥ ६० ॥

३६ यथाश्रयभावाधिकरणम्

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ६१ ॥

शिष्टेश्च ॥ ६२ ॥

समाहारात् ॥ ६३ ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६४ ॥

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ६५ ॥
दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

अथ तृतीये चतुर्थः पादः ।

१ पुरुषार्थाधिकरणम्

पुरुषार्थोऽतश्शब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥
शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ।२।
आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥
तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥
समन्वारम्भणात् ॥ ५ ॥
तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥
नियमाच्च ॥ ७ ॥
अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥
तुल्यन्तु दर्शनम् ॥ ९ ॥
असार्वत्रिकी ॥ १० ॥
विभागश्शतवत् ॥ ११ ॥
अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥
नाऽविशेषात् ॥ १३ ॥
स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥
उपमर्दं च ॥ १६ ॥
ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॥ १७ ॥

२ परामर्शाधिकरणम्

परामर्शं जैमिनिरचोदना चाऽपवदति हि ॥ १८ ॥
अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥
विधिर्वा धारणवत् ॥ २० ॥

३ स्तुतिमात्राधिकरणम्

स्तुतिमात्रमुपादानादितिचेन्नापूर्वत्वात् ॥ २१ ॥
भावशब्दाच्च ॥ २२ ॥

४ पारिप्लवाधिकरणम्

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥
तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २४ ॥

५ अग्नीन्धनाद्यधिकरणम्

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २५ ॥

६ सर्वापेक्षाधिकरणम्

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २६ ॥
शमदमाद्युपेतस्स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ २७ ॥

७ सर्वान्नानुमत्यधिकरणम्

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥ २८ ॥

अबाधाच्च ॥ २९ ॥
अपि च स्मर्यते ॥ ३० ॥
शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३१ ॥

८ आश्रमकर्माधिकरणम्

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ३२ ॥
सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥
सर्व्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३४ ॥
अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३५ ॥

९ विधुराधिकरणम्

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३६ ॥
अपि च स्मर्य्यते ॥ ३७ ॥
विशेषानुग्रहश्च ॥ ३८ ॥
अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥ ३९ ॥

१० तद्भूताधिकरणम्

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमा-
तद्रूपाऽभावेभ्यः ॥ ४० ॥

११ आधिकाराधिकरणम्

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ४१
उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥ ४२ ॥

१२ बहिरधिकरणम्

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥

१३ स्वाम्यधिकरणम्

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४४ ॥

आर्त्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ।४५

श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥

१४ सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम्

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ४७ ॥

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥ ४८ ॥

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४९ ॥

१५ अनाविष्काराधिकरणम्

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ५० ॥

१६ ऐहिकाधिकरणम्

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ ५१ ॥

१७ मुक्तिफलाधिकरणम्

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थाऽवधृतेः ॥ ५२ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

इति साधनाख्यस्तृतीयोऽध्यायः ।



अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

चतुर्थे प्रथमः पादः ।

१ आवृत्त्यधिकरणम्

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

२ आत्मत्वोपासनाधिकरणम्

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥

३ प्रतीकाधिकरणम्

न प्रतीके न हि सः ॥ ४ ॥

४ ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणम्

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥

५ आदित्यादिमत्यधिकरणम्

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥

६ आसीनाधिकरणम्

आसीनः सम्भवात् ॥ ७ ॥

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

अचलत्वञ्चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

स्मरन्ति च ॥ १० ॥

७ एकाग्रताधिकरणम्

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥

८ आप्रायणाधिकरणम्

आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥

९ तदधिगमाधिकरणम्

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥

१० इतरासंश्लेषाधिकरणम्

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

११ अनारब्धाधिकरणम्

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥

१२ अग्निहोत्राद्यधिकरणम्

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्य्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥
अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥ १७ ॥

१३ विद्याज्ञानसाधनाधिकरणम्

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥

१४ इतरक्षपणाधिकरणम्

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते ॥ १९ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

अथ चतुर्थे द्वितीयः पादः ।

१ वागधिकरणम्

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥

अत एव च सर्वाण्यनु ॥ २ ॥

२ मनोऽधिकरणम्

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥

३ अध्यक्षाधिकरणम्

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

४ आसृत्युपक्रमाधिकरणम्

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥

५ संसारव्यपदेशाधिकरणम्

तदाऽपीतेस्संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥ ११ ॥

६ प्रतिषेधाधिकरणम्

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥

स्मर्य्यते च ॥ १४ ॥

७ वागादिलयाधिकरणम्

तानि परे तथा ह्याह ॥ १५ ॥

८ अविभागाधिकरणम्

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥

९ तदोकोऽधिकरणम्

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥

१० रश्म्यधिकरणम्

रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥ १९ ॥

११ दक्षिणायनाधिकरणम्

अतश्चायनेऽपि हि दक्षिणे ॥ २० ॥

योगिनः प्रति च स्मर्य्यते स्मार्ते चैते ॥ २१ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥



अथ चतुर्थे तृतीयः पादः ।

१ अर्चिराद्यधिकरणम्

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥

२ वाय्वधिकरणम्

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥

३ तडिदधिकरणम्

तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ॥ ३ ॥

४ आतिवाहिकाधिकरणम्

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ४ ॥

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ५ ॥

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ६ ॥

५ कार्याधिकरणम्

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ७ ॥

विशेषितत्वाच्च ॥ ८ ॥

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ९ ॥

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ १० ॥

स्मृतेश्च ॥ ११ ॥

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १२ ॥

दर्शनाच्च ॥ १३ ॥

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥ १४ ॥

६ अप्रतीकालम्बनाधिकरणम्

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च ॥ १५ ॥

विशेषं च दर्शयति ॥ १६ ॥

इति चतुर्थध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थे चतुर्थः पादः ।

१ सम्पद्याविर्भावाधिकरणम्

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ १ ॥

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

२ अविभागाधिकरणम्

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

३ ब्राह्माधिकरणम्

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥

चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥६॥

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

४ संकल्पाधिकरणम्

सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

५ अभावाधिकरणम्

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ १२ ॥

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

६ प्रदीपाधिकरणम्

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥१६॥

७ जगद्व्यापाराधिकरणम्

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥१७॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डल-
स्थोक्तेः ॥ १८ ॥

विकारावर्त्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥ १९ ॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥

अनावृत्तिश्शब्दादनावृत्तिश्शब्दात् ॥ २२ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

इति फलाख्यश्चतुर्थोऽध्यायः ।

ॐ तत्सत् ॥



आत्मदेवोपासना

आत्मदेव उपासना

उपासना दो प्रकारसे होती है, अन्तःकरण और शरीरसे। ज्ञान और वाणीद्वारा जो उपासना की जाती है वह अन्तःकरण-की अथवा मानसिक उपासना कहलाती है। देव और साधुओं-की सेवा और पूजा शरीर द्वारा की जानेवाली उपासना है। यही आत्मदेव उपासना है और पूर्ण-फलदायिका होती है।



गायत्री

ॐ भूर्भुवः स्वः। तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्। ॐ

सत्‌मात्र प्रकाशात्मा परमानन्द परमात्मा। जगत्स्रष्टा देवके उस श्रेष्ठ तेजका हम ध्यान करें कि वह हमारी विचारशक्तियोंको प्रेरित करे।



ध्यानम्

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

—ईशावास्योपनिषत् १५

सुनहले पात्रसे सत्यका मुंह ढंका हुआ है। उसको तू, हे पूषन् (पोषण करनेवाले), खोल दे सत्यधर्मके देखनेके लिये।

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्माऽमृतं गमय॥

—बृहदारण्यकोपनिषत् १।३।२८

असत्से मुझे सत्को पहुंचा।
अन्धकारसे मुझे प्रकाशमें पहुंचा।
मृत्युसे मुझे अमरताको पहुंचा॥



प्रातःकालमन्त्राः

ॐ

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठा।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥
—श्वेताश्वरोपनिषत् १।१

कारण क्या है ? ब्रह्म ? हम कहांसे उत्पन्न हुए हैं ? हम किसके द्वारा जीते हैं और किसपर स्थापित हैं। किसका सहारा लिये हुए सुख में और दुःखमें हम अपने अपने जीवन व्यतीत करते हैं, हे ब्रह्मको जाननेवालो ॥

स्वभावमेके कवयो वदन्ति
कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोके
येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥
—श्वेत० ६।१

स्वभाव है—कोई विद्वान् कहते हैं,
काल है—(कहते हैं) दूसरे—भ्रान्तिमें पड़े हुए।
परन्तु परमेश्वर (देव) हीकी महिमा है संसारमें
जिससे यह ब्रह्मचक्र घुमाया जाता है ॥

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्व्वं
ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।
तेनेशितं कर्म विवर्ततेह
पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्॥
—श्वेत० ६।२

जिससे यह सब नित्य व्याप्त होता है
जो ज्ञाता, कालका कर्त्ता, गुणी, सर्वज्ञ है।
उसीसे शासित होकर कर्म, पृथ्वी, जल, अग्नि,
वायु आकाश विवर्तित हुए विचारणीय हैं॥

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः
परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं
देवं स्वचित्तस्थमुपास्यपूर्व्वम्॥
—श्वेत० ६।५

वह मूल कारण, संयोगका निमित्तकारण,
तीनों कालोंसे परे, कलारहित भी, जाना जाता है।
उस विश्वरूप, उत्पत्तिस्थान, स्तुतिके योग्य
देवकी, जो अपने चित्तमें है, उपासना कर—उस पुरातनकी॥

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो
यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्त्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशम्
ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥
—श्वेत० ६।६

वह संसाररूपी वृक्ष और कालके विभागों से परे है—अन्य है,
वह जिससे संसार परिवर्तन करता है।
उस धर्म करानेवाले, पाप हटानेवाले, सौभाग्यके ईशको
जानकर, जो आत्मस्थित है, जो मरता नहीं है, जो जगत् का आश्रय है,
(मुक्ति होती है) ॥

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥
—श्वेत० ६।७

ईशोंके परम महेश्वर
और देवोंके परम देव,
पतियोंके परम पति,
हम उस देवको जानते हैं, श्रेष्ठ जगदीशको ॥

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥
—श्वेत० ६।९

न उसका कोई पति है जगत्में,
न ही परिचालक, और न ही उसका कोई लिङ्ग,
वह कारण, इन्द्रियोंके देवोंका अधिपति,
और न कोई उसका उत्पादक है, न शासक ॥

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः
प्रधानजैः स्वभावतः ।
देव एकः स्वमावृणोति
स नो दधातु ब्रह्माप्ययम् ॥
—श्वेत० ६।१०

जो मकड़ीकी तरह प्रकृतिसे उत्पन्न
तन्तुओंसे अपने स्वभाव के अनुसार
एक देव अपनेको ढांक लेता है
वह हमको ब्रह्ममें लीनता प्रदान करे ॥

एको देवः सर्व्वभूतेषु गूढः
सर्व्वव्यापी सर्व्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्व्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
—श्वेत० ६।११

एक देव, सब भूतोंमें छिपा हुआ,
सर्वव्यापी, सब भूतोंका अन्तरात्मा।
कर्मका अध्यक्ष, सब भूतोंमें वास करनेवाला,
साक्षी, चैतन्य, केवल और निर्गुण॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व्वपाशैः॥
—श्वेत० ६।१३

नित्य नित्योंमें, चेतन चेतनोंमें
एक बहुतमें, जो कामनाओंको पूर्ण करता है—
उस कारणको, जो सांख्य-योगसे प्राप्त होता है,
जानकर—देवको—सब बन्धनोंसे (जीवको)
छुटकारा मिलता है॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्व्वं
तस्य भासा सर्व्वमिदं विभाति ॥
—श्वेत० ६।१४

न वहां सूर्य चमकता है, न चांद, तारे,
न यह बिजलियां, तो कैसे यह अग्नि ?
उस प्रकाशमयके पीछे चमकता है सब कुछ,
उसके प्रकाशसे यह सब चमकता है ॥

स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनि—
र्ज्ञः कालकारो गुणी सर्व्वविद् यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः
संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥
—श्वेत० ६।१६

वह सृष्टिकर्ता है, विश्वका जाननेवाला, स्वयम्भू,
ज्ञाता, कालका कर्ता, गुणवान्, सर्वविद् जो ।
प्रकृति और जीवात्माका पति, गुणोंका ईश,
आवागमन, मोक्ष, स्थिति और बन्धनका कारण है ॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

—श्वेत० ६।१८

जो ब्रह्माको रचता है, आदिमें,
और जो वेदोंको देता है उसको—
उसी देवकी, जो आत्मज्ञानका प्रकाश है,
मोक्षाभिलाषी होकर मैं शरण लेता हूं॥

—o—

(अथवा निम्नलिखित श्लोक।)

ॐ अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते
उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु
भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥

—कठोपनिषत् १।२।१

श्रेय और है और प्रेय और ही है,
ये दोनों भिन्न भिन्न प्रयोजनोंसे पुरुषको बांधते हैं।
उन दोनोंमेंसे श्रेयको ग्रहण करनेवालेका कल्याण होता है।
और उद्देश्यसे वह रह जाता है, जो प्रेयको चुन लेता है॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥

—कठ० १।२।२

श्रेय और प्रेय मनुष्यके समीप आते हैं,
उन दोनोंको देख भालकर धीर उनको पृथक् पृथक् करता है।
श्रेयको ही धीर पुरुष, प्रेयको छोड़कर, चुन लेता है,
प्रेयको मूढ़ इकट्ठा करनेकी इच्छासे चुन लेता है ॥

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

—कठ० १।२।५

अविद्याके भीतर रहते हुए, अपनेको धीर और पण्डित मानते हुए,
मूढ़ इधर उधर लुढ़कते और भटकते फिरते हैं,
अन्धों जैसे जो अन्धोंसे ले जाये जाते हैं ॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

—कठ० १।२।६

परलोक नासमझ आदमीको नहीं प्रकट होता,
जो असावधान और धनके मोहसे मुग्ध हैं।
'यह लोक है, इससे परे कुछ नहीं' ऐसा सोचनेवाला
बार बार मेरे (यमके) वशमें आता है ॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥
—कठ० १।२।१२

उस दुर्दर्श, गुप्तमें प्रविष्ट हुए,
गुफामें स्थिर, गहराईमें स्थित, सनातन,
देवको अध्यात्मयोगसे जानकर
धीर पुरुष हर्ष शोक दोनोंको त्याग देता है॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥
—कठ० १।२।२०

छोटेसे भी छोटा, बड़ेसे भी बड़ा
आत्मा इस जन्तुके हृदयमें स्थित है।
निष्काम पुरुष शोकरहित होकर देखता है,
विधाताके प्रसादसे आत्माकी महिमाको॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
—कठ० १।२।२२

यह आत्मा न पठन पाठनसे प्राप्त होता है,
न बुद्धिसे, न शास्त्रोंके बहुत सुननेसे।
जिसको यह स्वीकार करता है उसको प्राप्त होता है—
उसके लिये यह आत्मा अपना स्वरूप प्रकट करता है॥

नाविरतो दुश्चरिताद्वाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

—कठ० १।२।२३

न वह जो दुराचरणसे हटा न हो,
न वह जो अशान्त है, न वह जिसका चित्त अस्थिर है,
और जो डांवाडोल मनवाला है—वह भी नहीं
ज्ञानसे इसको प्राप्त करता ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

—मुण्डकोपनिषत् ३।१

दो पक्षी—सर्वदा संयुक्त मित्र—
एक ही वृक्षपर बसते हैं ।
उन दोनोंमेंसे एक स्वादिष्ट फल खाता है
एक न खाता हुआ देखता है ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

—मुण्ड० ३।२

उसी वृक्षपर जीवात्मा—निमग्न,
असमर्थतासे व्याकुल—शोकमें पड़ा है ।
जब वह दूसरेको—उस प्रभुको देखता है,
और उसकी महिमाको तो शोकरहित होता है ॥

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥
—मुण्ड० ३।५

सत्यसे (और) तपसे यह आत्मा प्राप्त होता है,
पूर्णज्ञानसे (और) नित्य ब्रह्मचर्यसे—
शरीरके भीतर, ज्योतिर्मय और शुद्ध,
जिसको दोषरहित यति लोग देखते हैं॥

सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥
—मुण्ड० ३।६

सत्य ही विजय पाता है—झूठ नहीं।
सत्यसे देवयान मार्ग विस्तृत होता है,
जिससे सत्यदर्शी तृष्णारहित आगे बढ़ते हैं—
जिधर सत्यका वह परम निधान है॥

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं
सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥
—मुण्ड० ३।७

महान् है वह और दिव्य, अचिन्त्यरूप,
और सूक्ष्मसे सूक्ष्म वह चमकता है ।
वह दूरसे अति दूर है, और यहाँ समीप है,
देखनेवालोंके लिये यहीं गुफा (हृदय)में प्रतिष्ठित है ॥

नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः ॥
—छान्दोग्य० ८।१।५

न इस देहके जीर्ण होनेसे (वह) जीर्ण होता है, न इसके मारे जानेसे मरता है । यह सच्ची ब्रह्मपुरी है । इसमें कामनाएँ एकत्रित हैं । यह आत्मा पापरहित, बुढ़ापा रहित, मरण रहित, शोक रहित, भूख रहित, प्यास रहित, सच्ची कामनावाला और सच्चे संकल्पवाला है ॥

तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।

छान्दोग्य० ८।१।६

इसलिये जो आत्माको और इन सत्यकामनाओंको यहाँ न जानते हुए (परलोक) जाते हैं उनका संचार सब लोकोंमें नहीं होता । पर जो आत्माको और इन सत्यकामनाओंको यहाँ जानते हुए (परलोक) जाते हैं उनका संचार सब लोकोंमें होता है ॥

स वा अयमात्मा सर्व्वेषां भूतानामधिपतिः । सर्व्वेषां भूतानां राजा । तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्व्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्व्वाणि भूतानि सर्व्वे देवाः सर्व्वे लोकाः सर्व्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः ॥

बृहदारण्यक० २।५।१५

वह यह आत्मा सब भूतोंका प्रभु, सब भूतोंका राजा है । जैसे रथचक्रकी नाभिमें और रथचक्रकी नेमिमें सब अरे जड़े होते हैं, वैसे ही इस आत्मामें सब भूत, सारे देव, सारे लोक, सारे प्राण, सब इस आत्मामें लगे हुए हैं ।



सायङ्कालमंत्राः

ॐ

सर्व्वाजीवे सर्व्वसंस्थे बृहन्ते
तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् १।६

उस सर्वजीवनस्थानमें, सर्वाश्रय महान्
ब्रह्मचक्रमें (जीवात्मा) हंस भ्रमण करता है
अपनेसे प्रेरक (भ्रमण करानेवाले) को अलग समझ कर,
उसकी कृपा होनेपर वह मोक्ष पाता है ॥

उद्गीतमेतत् परमं तु ब्रह्म
तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा
लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥
—श्वेत० १।७

यह परम ब्रह्म निश्चय ही गाया जाता है,
उसमें त्रय (तीनों) है । वह सुस्थित और अक्षर है ।
उसके भीतरी भेदको ब्रह्मज्ञानी जानकर
ब्रह्ममें लीन, तत्पर और जन्ममुक्त होते हैं ॥

संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व्वपाशैः ॥
—श्वेत० १।८

इस संयुक्त क्षर और अक्षरको,
व्यक्त-अव्यक्त विश्वको ईश्वर संभालता है ।
अनीश आत्मा भोक्तृभावके कारण बद्ध होता है,
देवको जानकर वह सब बन्धनोंसे छूटता है ॥

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा
ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता
त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥
—श्वेत० १।९

ज्ञ (ज्ञानी) अज्ञ, ईश अनीश, दोनों अनादि हैं ।
अनादि भी एक (प्रकृति) है, जो भोक्ताके भोगके अर्थसे युक्त है ।
और अनन्त आत्मा, विश्वरूप होकर ही, अकर्ता है ।
त्रय जब (मुमुक्षु) जानता है, यही ब्रह्म है ॥

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद्
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥
—श्वेत० १।१०

प्रधान क्षर है, हर अमर और अक्षर है,
क्षर और जीवपर एक देव शासन करता है ।
उसके चिन्तन, संयोजन और तत्त्वभावनासे
बार बार, अन्तमें संसारकी मायासे छुटकारा होता है ॥

ज्ञात्वा देवं सर्व्वपाशापहानिः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिधानात् तृतीयं देहभेदे
विश्वैश्वर्य्यं केवल आप्तकामः ॥
—श्वेत० १।११

जानकर देवको सब बन्धनोंका नाश होता है
क्लेशोंके क्षीण होनेसे जन्म-मरणका नाश होता है ।
उसके चिन्तनसे, शरीरसे अलग होते समय तृतीय पद और
विश्वकी प्रभुता मिलती है । वह केवल है,
जिसकी कामनाएँ पूरी हो चुकीं ॥

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं
नातः परं वेदितव्यं हि किंचित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्व्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥
—श्वेत० १।१२

इसको जानना चाहिये—नित्य ही आत्मस्थित ।
उसके बाद जानने योग्य कुछ भी नहीं ।
भोक्ता (जीव), भोग्य (प्रकृति) और प्रेरक (ईश्वर)
को जानकर सब कहा गया—
त्रिविध ब्रह्म यह है ॥

—०—

(अथवा निम्नलिखित श्लोक)

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
—कठोपनिषत् १।३।३

आत्माको रथका स्वामी जान और शरीरको रथ ।
बुद्धिको सारथि जान और मनको बागडोर ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
—कठ० १।३।४

इन्द्रियोंको घोड़े कहते हैं, विषयोंको उनके मार्ग।
आत्मा, इन्द्रिय और मनसे युक्त प्राणीको
विचारवान् लोग भोक्ता कहते हैं।

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥
—कठ० १।३।५

पर वह जो अविवेकी है, जिसका मन सदा अयुक्त है—
उसकी इन्द्रियाँ वशसे बाहर हैं,
सारथीके दुष्ट घोड़ोंके समान॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥
—कठ० १।३।६

पर जो विवेकी है, जिसका मन सदा युक्त है,
उसकी इन्द्रियां वशमें हैं, सारथीके अच्छे घोड़ोंके समान॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥

—कठ० १।३।७

और वह जो अविवेकी है, जिसका मन ठिकाने नहीं, सदा अपवित्र है, वह उस पदको नहीं पहुंचता, और संसारमें फंसता है॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥

—कठ० १।३।८

पर जो विवेकी है, एकाग्रचित्त, सदा पवित्र है, वह उस पदको प्राप्त होता है, जहांसे फिर जन्म नहीं लेता।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

—कठ० १।३।९

जिसका सारथि विज्ञान है, जिसकी मनरूपी बागडोर वशमें है, वह मनुष्य मार्गके पारको प्राप्त होता है—विष्णुके उस परम पदको।

ॐ तत्सत् ब्रह्मार्पणमस्तु।

अनुशासन

आचार्यका गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेवाले शिष्यको ।

[तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षाध्याय, अनुवाक ११]

सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः ।
आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः ॥

सत्य बोल । धर्मसे चल । स्वाधायसे कभी न चूक । गुरुको मनोनीत धन भेंट करके सन्तानके सूत्रका उच्छेद मत कर । *

सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्म्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्य्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥

सत्यके सम्बन्धमें प्रमाद (भूलचूक) न करना चाहिये । धर्मके सम्बन्धमें प्रमाद न करना चाहिये । कल्याण या आत्मरक्षा सम्बन्धी कार्यसे प्रमाद न करना चाहिये । मंगलकार्यसे प्रमाद न करना चाहिये । वेदके पढ़ने पढ़ानेमें प्रमाद न करना चाहिये । देव और पितृकार्योंके सम्बन्धमें प्रमाद न करना चाहिये ।

---

* अर्थात् आचार्यको धन प्रिय है यह समझकर उन्हें धन देकर ही ज्ञान-रूपी प्रजाका मूलोच्छेद न कर । गुरुदक्षिणा देकर ही कर्तव्य समाप्त नहीं हो जाता प्रत्युत उस ज्ञानको, जो गुरुसे पाया है, औरोंको भी देना पड़ता है ।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्म्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि॥

माताको देव समझ। पिताको देव समझ। आचार्य (गुरु) को देव समझ। अतिथिको देव समझ। जो कार्य अनिन्द्य हैं उन्हींका आचरण कर। अन्य कर्मोंका नहीं। हमारे जो सत्कर्म हैं उन्हींका तू आचरण कर। औरोंका न कर।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

"वेदान्त वा आत्मविचार"

कतिपय श्रद्धेय विद्वानोंकी सम्मतियां

(१)

बनारस गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेजके प्रिन्सपल महामहोपाध्याय पंडित गोपीनाथ कविराज, एम० ए०, महोदय लिखते हैं—

मैंने उपर्युक्त पुस्तक स्थालीपुलाक न्यायसे देखी। इसमें राजा साहबके प्रशंसनीय शास्त्रानुराग तथा स्वतन्त्रविचार-प्रियताको देखकर चित्त प्रसन्न हुआ। कहीं कहीं राजा साहबकी प्रतिपादन-सरणि तथा उनका सिद्धान्त विलक्षण प्रतीत होनेपर भी यह निःसन्देह है कि इस ग्रन्थका प्रचार जनताके लिये उपकारक ही होगा। सरल हिन्दीमें गम्भीर वेदान्ततत्त्वोंके व्याख्यानसे साम्प्रदायिक पक्षपातहीन पाठकोंका लाभ अवश्य ही होगा।

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटीके प्रो-व्हाइस चान्सेलर श्री आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव, एम० ए०, एल-एल० बी०, महोदय लिखते हैं—

श्रीमान् राजा बलदेवदासजी बिरला रचित 'वेदान्त वा आत्म-विचार' नामक ब्रह्मसूत्रकी हिन्दीमें लिखी वृत्तिको देखकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता होती है। आपने अपना लोक-व्यवहार अपने सुपुत्रोंको संक्रान्त करके काशी-वास किया है और आप अपना समय सम्पूर्णतया वेदान्तके श्रवण-मननमें लगाते हैं। यही हमारे देशका पुराना आश्रम-धर्मका सम्प्रदाय है। बिरलाजीकी लिखी हुई यह वृत्ति अतीव संक्षिप्त, सरल एवं प्रासादिक है, जिससे संस्कृतसे अनभिज्ञ हिन्दी-पाठकोंको मूलके अर्थ निर्मल-जल-तलमें पड़े हुए मौक्तिकके समान देख पड़ते हैं। आपने इस वृत्तिमें किसी भाष्य अथवा टीकाका आश्रय नहीं लिया है, इससे कई अर्थ विद्वान् पाठकोंको अपरिचित प्रतीत होंगे तथापि, इसी कारण, यह ग्रन्थ अधिक रोचक हो गया है।



(३)

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, प्राच्यविद्या विभागके प्रिन्सिपल महामहोपाध्याय पंडित श्री प्रमथनाथ तर्कभूषण महोदय लिखते हैं—

'वेदान्त वा आत्मविचार' पढ़कर मुझे बड़ा ही सन्तोष हुआ। वेदान्त सूत्रका हिन्दी भाषामें ऐसा सरल और महत्त्वपूर्ण व्याख्यान-ग्रन्थ दूसरा और कोई नहीं दीख पड़ता है। वेदान्त दर्शनके सिद्धान्तोंके व्याख्यान-प्रसङ्गमें ग्रन्थकारने जो नया कल्पना-प्रकार उद्भावन किया है, वह अनन्यसाधारण होनेपर भी शास्त्रविरोधी नहीं है, अथ च उससे चिन्ताशील जनोंका सर्वथा हृदयरञ्जन होता है। इस ग्रन्थके प्रचारसे वेदान्ततत्वानुसन्दिधित्सु सहृदय जनता विशेष सन्तोष पावेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है।



(४)

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयके प्रोफेसर न्यायवेदान्ताद्यनेकशास्त्राध्यापक पंडित बालकृष्ण मिश्र महोदय लिखते हैं—

श्रीमान् राजा बलदेवदास बिरला महाशयः परैरनाकलितं किमपि प्रत्यग्रं लोकोत्तरं व्याख्यानमाविश्चकार ब्रह्मसूत्राणाम्, इत्यतो हृष्यामीति।



(५)

लाहौर ओरियण्टल कालेजके प्रधानाध्यापक महामहोपाध्याय पंडित माधव शास्त्री भाण्डारी महोदय लिखते हैं—

श्रीमान् मान्यवर राजा बलदेवदास जी बिरला महोदयका बनाया 'वेदान्त वा आत्मविचार' नामका ग्रन्थ समालोचनार्थ भेजा हुआ हमने देखा। इस ग्रन्थमें राजा साहबने जो शास्त्र-मननपूर्वक स्वतन्त्र विचार प्रकट किये हैं उनके लिये आप धन्यवादार्ह हैं। आपने विचार-पुष्टिके लिये स्थल स्थलमें जो उपनिषत्, दार्शनिक सूत्र तथा व्याकरणादि विषयोंका प्रमाणरूपसे उपन्यास किया है, उससे आपका शास्त्रादर भी अत्यन्त झलकता है। यह ग्रन्थ आपकी योग्यताका पूर्णतया परिचायक है।



(६)

काशीस्थ बिरला विद्यालयके प्रधानाध्यापक सर्वशास्त्राध्यापक पंडित सभापति शर्मोपाध्याय महोदय लिखते हैं—

माननीयानां राजश्रीमद्बलदेवदासमहोदयानां प्रबन्धाख्याविलसितात्मविचारनामधेयनिबन्धावलोकनेनानन्दसन्दोहनिमग्नमानसोऽहं मन्ये एतन्निबन्धमननोद्भूतप्रमोदोपकृता सम एव सफलयिष्यन्ति निबन्धरत्नमिति।



काशीके निखिलशास्त्राध्यापक पंडित श्री काशीनाथ शास्त्री महोदय लिखते हैं—

अयं राजा बलदेवदास विरलोपज्ञमात्मविचाराभिधो ग्रन्थः यद्यपि प्राचीनभाष्यकृद्भिः क्षुण्णां कामपि पद्धतिं नानुसरति विरुणद्धि च ब्रह्मसूत्रव्याख्यानानि, तथापि न वेदान्तसिद्धान्तं तात्पर्यतो विरुणद्धि। अत्र च तत्र तत्र वैदिकरहस्यसूत्रणाऽपि अस्ति येन तद्रहस्यविशेष-जिज्ञासूनां शास्त्रोदधिवगाहने महोत्साहं वर्धयन् मद्गुमतीनुपकरिष्यति, अथ च तेषामेव वेदान्तप्रविविक्षूणां कयाऽपि प्रणाल्या चेतस्सु चमत्कार-मुपहरन् शिथिलां वेदान्तप्रवृत्तिं दृढां भावयन्नात्मविचारं कालेन सत्पथ-मवतार्योपजनयतादिति।

